साठोत्तरी हिन्दी कथा साहित्य में दलित चेतना

हिन्दी साहित्य में डी०फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबंध

शोधकर्ता
कृष्ण मोहन सिंह

निर्देशक
प्रो० राजेन्द्र कुमार

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

भूमिका	-------	–	i
अध्याय-1	दलित की अवधारणा	–	
	(1) दलित शब्द की अर्थव्याप्ति	–	1
	(2) समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य	–	3
	(i) वैदिक काल	–	3
	(ii) उत्तर वैदिक काल	–	9
	(iii) मौर्यपूर्व काल	–	12
	(iv) मौर्य काल	–	17
	(v) मौर्योत्तर काल	–	21
	(vi) गुप्त काल	–	26
	(vii) गुप्तोत्तर काल	–	31
	(viii) मध्यकाल	–	33
	(ix) निष्कर्ष	–	39
अध्याय-2	हिन्दी रचनाशीलता में दलित चेतना का विकास		
	(i) पूर्वपीठिका	–	44
	(ii) प्रेमचंद साहित्य में दलित चेतना	–	49
	(iii) निराला साहित्य में दलित चेतना	–	67
	(iv) रेणु साहित्य में दलित चेतना	–	85
अध्याय-3	साठोत्तरी कहानियों में दलित चेतना		
	(i) शोषण की चेतना से युक्त कहानियाँ	–	94क
	(i) प्रत्यक्ष शोषण की कहानियाँ	–	94क

	(ii) अप्रत्यक्ष शोषण की कहानियाँ	–	104
	(2) संघर्ष की चेतना से युक्त कहानियाँ	–	108
	(i) अहिंसक संघर्ष की कहानियाँ	–	108
	(ii) हिंसक संघर्ष की कहानियाँ	–	120
अध्याय–4	साठोत्तरी उपन्यासों में दलित चेतना		
	(1) शोषण की चेतना	–	142
	(i) "धरती धन न अपना" शोषण का अप्रतिम दस्तावेज	–	142
	(ii) "नाच्यौ बहुत गोपाल" अप्रत्यक्ष शोषण की मार्मिक गाथा	–	168
	(2) संघर्ष की चेतना	–	191
	(i) दलितों के शांतिपूर्ण संघर्ष का आख्यान "महाभोज"	–	191
	(ii) "एक टुकड़ा इतिहास", दलितों के जुझारू संघर्ष की गाथा	–	209
अध्याय–5	दलित चेतना की विशिष्टता		
	(i) शहर की भूमिका	–	223
	(ii) महिलाओं की स्थिति	–	235
	(iii) नैतिकता की अवधारणा	–	245
	(iv) धर्म के प्रति दृष्टिकोण	–	257
	(v) राजनीति की भूमिका	–	269
	उपसंहार	–	270
	ग्रंथ-सूची	–	276

भूमिका

साहित्य के संवेदनशील विद्यार्थी के रूप में जब से मैंने होश संभाला नेल्सन मंडेला का रंगभेद विरोधी संघर्ष मुझे हमेशा महाकाव्यों में वर्णित आख्यान जैसा लगता था । मेरे देखते-देखते मण्डेला जेल से रिहा हुए और दक्षिण अफ्रीका के राष्ट्रपति बने । वह राष्ट्र रंगभेद को मिटाने की यात्रा पर निकल पड़ा । लेकिन मेरा हृदय इससे संतुष्ट न हो सका । क्योंकि मेरे सामने ही एक और दक्षिण अफ्रीका था- मेरे उपजाऊ दोआब प्रदेश के हर गाँव के दक्षिण में एक दक्षिण अफ्रीका बसा है ---सहस्त्राब्दियों के दमन ,उत्पीड़न और वंचना की स्मृतियों में खदबदाता हुआ । वह है गाँव की दलित बस्ती । यह दक्षिण अफ्रीका आज भी अपनी अस्मिता और अधिकारों की लड़ाई लड़ रहा है । आज भी इनका नरसंहार हो रहा है,इनकी बस्तियाँ जलाई जा रही हैं और इनकी महिलाओं पर सामूहिक बलात्कार हो रहा है । एक सवर्ण परिवार में पैदा होने के कारण ही मुझे अनायास बहुत सारी सुविधाएँ उपलब्ध रही हैं जिनके बारे में वे सोच भी नहीं सकते ।

शायद अवचेतन पर बने रहे ऐसे ही किसी दबाव की वजह से,जब मेरे गुरू प्रो० राजेन्द्र कुमार ने मुझसे हिन्दी कथा साहित्य में दलित चेतना का अध्ययन करने को कहा तो, मैंने विना एक क्षण सोचे-विचारे इसे स्वीकार कर

लिया । "60 से '80 तक की अवधि का चुनाव इसलिए हुआ कि इस अवधि में आज़ादी के मोहपाश से मुक्त होकर हिन्दी में दलित चेतना का पहला उभार दिखाई पड़ता है ।

इस विषय पर शोध कार्य के लिए नामांकित हो जाने के बाद इसके गुरूत्व का आभास मुझे हुआ । हिन्दी में कुछ दलित रचनाकारों के आक्रामक तेवर के कारण दलित चेतना की सुगबुगाहट तो शुरू हो गई थी और समकालीन साहित्य में उपस्थित दलित चेतना पर कुछ छिटपुट लेख भी पत्र-पत्रिकाओं में दिखाई पड़ने लगे थे किन्तु स्वातंत्र्योत्तरी कथा साहित्य के संदर्भ में ऐसी किसी सामग्री का नितान्त अभाव था । वर्षों तक मैं ऐसी किसी सामग्री की तलाश में भटकता रहा लेकिन सब व्यर्थ । यहाँ तक कि रचनाओं के संकलन-संपादन में भी यह दृष्टि अपवाद स्वरूप (जैसे गिरिराज शरण संपादित "दलित जीवन की कहानियाँ) ही दिखाई पड़ी ।

अब मेरे सामने दो ही विकल्प थे । या तो मैं हिम्मत हार कर कान पकड़ लेता या फिर मौलिकता के आवरण में अपने अज्ञान को ढँकने की कोशिश करता । मैंने अपने गुरूवर की आकाशधर्मा उदारता के सहारे मौलिक हो जाने का मार्ग चुना । जैसा भी बन पड़ा है, परिणाम सामने है ।

इस प्रबंध में शोध संबंधी दो रूढ़ियों का मैंहर संभव कोशिश करने के बावजूद पूरी तरह पालन नहीं कर सका । पर्याप्त संदर्भ सामग्री के अभाव

संदर्भ का समुचित विवरण नहीं दे पाने की स्थिति में यह सोचकर संतोष करना पडा कि मौखिक इतिहास के जमाने में यह परिस्थिति जन्य चूक शायद क्षम्य हो । साहित्य में चित्रित दलित जीवन के मार्मिक प्रसंगों का विश्लेषण करते हुए मैं शोध के लिए आदर्श माना जाने वाला ठंडा , तटस्थ और निरावेग रवैया नही अपना सका हालांकि वस्तुनिष्ठता की क्षति मैंने कहीं नहीं होने दी । अपने इस रवैये के लिए तो मैं क्षमायाचना भी नहीं कर सकता ।

वरिष्ठ कथा शिल्पी और दलित चेतना के अप्रतिम चित्रकार आदरणीय मार्कण्डेय जी की प्रेरणा और उनके प्रोत्साहन के अभाव में भी यह कार्य संभव हो पाता इसमें मुझे संदेह है । उनके इस अनायास स्नेह के प्रति आभार व्यक्त करना निरर्थक होगा ।

कृष्णमोहनसिंह
कृष्ण मोहन सिंह

अध्याय - 1

दलित की अवधारणा

(1) दलित शब्द की अर्थ-व्याप्ति

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन सैकड़ों वर्षों से विद्वानों के दुर्निवार कुतूहल का विषय रहा है । विशेष तौर पर इसकी वर्ण-व्यवस्था को लेकर विद्वानों में जबरदस्त मतभेद रहा है । कुछ लोग इसे प्राचीन काल के समाज के अनुकूल आवश्यक श्रम-विभाजन के रूप में देखते हैं तो कुछ इसे तत्कालीन शासकवर्ग के षड्यन्त्र के रूप में लक्षित करते हैं । कुछ इसे जन्म के आधार पर मानते हैं तो कुछ कर्म के आधार पर इसकी उत्पत्ति और विकास को मान्यता देते हैं ।

इन विषयों पर विद्वानों के बीच बौद्धिक वाद-विवाद और अकादमिक अध्ययन चल ही रहा था कि आधुनिक काल में अनेक मनीषियों ने वर्ण-व्यवस्था के सबसे निचले स्तर पर खड़े शूद्र वर्ग की शोचनीय दशा की तरफ पूरे राष्ट्र का ध्यान दिलाया और उन पर हो रहे अन्तहीन अत्याचारों को समाप्त करने तथा उन्हें एक आजाद मनुष्य के रूप में सभी जन-तान्त्रिक अधिकारों का इस्तेमाल करते हुए गरिमा पूर्वक जीने की परिस्थितियों को सुनिश्चित करने के लिए भारतीय सामाजिक व्यवस्था को बदलने का आन्दोलन छेड़ दिया । इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं महात्मा ज्योतिबा फुले और बाबा साहब डा0 भीमराव अम्बेडकर । इसकी पृष्ठ भूमि भक्ति-काल में सन्त कवियों की वाणी ने तैयार कर दी थी तथा भारत के स्वाधीनता संघर्ष के दौरान हुई राजनीतिक हलचल ने समाज के सुषुप्त हिस्सों को भी जगा दिया और उन्हें अपने अधिकारों के लिए सचेत कर दिया । इसकी प्रक्रिया में (जिसका सविस्तार अध्ययन फिलहाल

हमारे अध्ययन का विषय नहीं है ॥ समाज के इन सबसे वंचित, शोषित और तिरस्कृत वर्गों के लिए, जिन्हें वर्ण व्यवस्था की शब्दावली में शूद्र कहा गया था, "दलित" नामक सम्बोधन की उत्पत्ति हुई। यह अंग्रेजी के "डिप्रेस्ड" का हिन्दी रूपान्तर [1] कहा जा सकता है। अतीत में हुए अन्तहीन दमन के विरुद्ध वर्तमान में छिड़े संघर्ष की गरिमा से दमकते हुए इस सम्बोधन को दलितों ने तुरन्त स्वीकार कर लिया और अपनी इस नई जुझारू पहचान के साथ समाज, साहित्य और राजनीति में अपनी दावेदारी पेश करने लगे। देखते ही देखते दलित विमर्श हमारे समय का एक प्रमुख विमर्श बन गया।

दलित वर्ग के अन्तर्गत प्रमुख रूप से शूद्र, दास और अन्त्यज नामक ऐतिहासिक श्रेणियों को अभिहित किया जाता है। शूद्रों का छूत और अछूत तबकों में विभाजन सम्भवत: सभ्यता के विकास क्रम में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप छुआछूत के शिकंजे से कुछ शूद्रों के निकल आने की वजह से हुआ होगा जिन्हें आज "अन्य पिछड़ी जातियाँ" कहते है। हम इनकी सामाजिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में आगे इनके बारे में किंचित् विस्तार से विचार करेंगे। दलित शब्द की अर्थ व्याप्ति के संदर्भ में कुछ कोणों से यह सुझाव आता है कि दलितों के अन्दर महिलाओं को भी शामिल करना चाहिए क्योंकि वे भी कम उत्पीड़ित नहीं है। शोध के दौरान इस विषय पर गहन चिन्तन के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इसमें कोई संदेह नहीं

1- धर्मवीर- "हरिजन से दलित" सं0 राजकिशोर - पृष्ठ - 155

कि महिलाओं को भी§दलितों की तरह§ लम्बे समय से दमन तथा उत्पीड़न का सामना करना पड़ा है मगर उनके संघर्ष की प्रकृति यानी महिला-पुरुष संघर्ष की प्रकृति दलित-सवर्ण संघर्ष की प्रकृति से कई बिन्दुओं पर मूलतः भिन्न रही है । इसलिए महिलाओं में आई नवीन चेतना को दलितों की श्रेणी से अलग विशिष्ट नारी चेतना के अन्तर्गत ही देखना चाहिए ।

§2§ समाज शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

(i) वैदिक काल

चतुर्वर्ण की उत्पत्ति के बारे में प्राचीनतम अनुमान पुरुषसूक्त में वर्णित सृष्टि सम्बन्धी पुराकथा में पाया जाता है । समझा जाता है कि इस संहिता के दशम मंडल में यह विषय बाद में अन्तर्वेशित किया गया है । लेकिन उत्तर वैदिक साहित्य में और गाथा काल,पुराण तथा धर्मशास्त्र की अनुश्रुतियों में भी इसे कुछ हेरफेर के साथ प्रस्तुत किया गया है । इसमें कहा गया है कि ब्राह्मण की उत्पत्ति आदिमानव §ब्रह्मा§ के मुँह से ,क्षत्रिय की उनकी भुजाओं से,वैश्य की उनकी जाँघों से और शूद्र की उनके पैरों से हुई थी ।[1] इस कथा से या तो यह स्पष्ट होता है कि शूद्र और अन्य तीन वर्ण एक ही वंश के थे और इसके फलस्वरूप वे आर्य समुदाय के अंग थे अथवा इसके द्वारा विभिन्न जातियों को ब्राह्मणीय समाज में उत्पत्ति की कहानी के द्वारा मिलाने का प्रयास किया गया । यह कथा अथर्ववेद के अन्तिम अंश

1-ऋग्वेद, 10.90-12 उद्धृत राम शरण शर्मा "शूद्रों का प्राचीन इतिहास"पृ0-29

में भी है। यह जनजातियों के सामाजिक वर्गों मे विघटित होने का सैद्धान्तिक औचित्य प्रस्तुत करती है । श्रम का विभाजन ऋग्वेद काल में ही काफी विकसित हो चुका था । किन्तु यद्यपि एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य कवि, भिषक, और पाठक }पिसाई करने वाले} का काम करते थे । इससे कोई सामाजिक भेदभाव उत्पन्न नहीं होता था । पर अथर्ववैदिक काल के अन्त में कार्यों की भिन्नता के आधार पर सामाजिक हैसियत में भी अन्तर किया जाने लगा और इस प्रकार जनजातियों तथा कुनबों का सामाजिक वर्गों में विघटन शुरू हुआ । कदाचित शूद्र या दासकर्म करने वाले कुछ आर्य चतुर्थ वर्ण की श्रेणी मे आ गए । इस अर्थ में चारों वर्णों की समान उत्पत्ति की कथा में सत्य का अंश है । किन्तु यह परम्परा पूर्णतः सत्य का अंश नहीं मानी जा सकती । सम्भव है कि बाद में आर्य शूद्रों के वंशजों की संख्या गंगा की नई उर्वर घाटियों में बढ़ती गई हो । साथ ही वैदिक काल से लेकर आगे तक विभिन्न प्रकार के विभिन्न वर्णों के आर्येतर आदिवासी धीरे-धीरे बड़ी संख्या में शूद्र वर्ण में शामिल किए गए हों ।

आर्यों के अन्य जनजातियों के साथ और उसके अन्तर जनजातीय संघर्षों के कारण समाज विश्रृंखलित होता गया [1] और जैसे-जैसे पशुपालन की अपेक्षा कृषि जोर पकड़ती गई, सामाजिक वर्गों की स्थापना हुई । यद्यपि ऋग्वेद में "वर्ण" शब्द का प्रयोग आर्य [2] और दास [3] के लिए हुआ है किन्तु इससे

1-राम शरण शर्मा - "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" -पृ0-29

2-ऋग्वेद III. 34.9 उद्धृत शर्मा "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" -पृ0-31

3- ऋग्वेद I. 104.2 III. 34-9 उद्धृत शर्मा"शूद्रों का प्राचीन इतिहास"पृ0-3

किसी श्रम-विभाजन का संकेत नहीं मिलता जो परवर्ती काल में समाज के व्यापक वर्गीकरण का आधार हुआ । आर्य वर्ण और दास वर्ण दो वृहद जनजातीय समूह थे जो सामाजिक वर्गों के रूप में विघटित हो रहे थे । "जन" और "विश"[1] जैसे शब्दों के ऋग्वेद में बार-बार दुहराए जाने और उनके रीति रिवाजों से पता चलता है कि ऋग्वेद समाज जनजातीय था । हमें मालूम नहीं कि जब आर्य भारत में पहली बार आए तो उनके पास दास थे या नहीं । ऋग्वेद के आरम्भिक भागों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक युग के भारतीय प्रधानतया पशुचारी थे ।[2] मानव विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधानों से पता चलता है कि कुछ पशुचारी जनजातियाँ भी दास रखती थी, हालाँकि अपेक्षित अर्थ में दास प्रथा का विकसित रूप कृषक जनजातियों में दिखाई पड़ता है ।[3]

इसमें संदेह नहीं कि हड़प्पा समुदाय की शहरी आबादी में जो आर्थिक विषमता थी, वह लगभग वर्ग भेद जैसी थी।[4] ह्वीलर की राय में हड़प्पा और मेसोपोटामिया के निवासियों के बीच दास व्यापार भी हुआ करता था ।[5] यह मानना युक्तिसंगत है कि हड़प्पा की

1-जन का उल्लेख 275 बार और विश का उल्लेख 170 बार हुआ है ।
उद्धृत शर्मा-"शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-23

2-ई. जे. रैप्सन : "दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया" पृ0-99

3-लैंटमैन : "दि ओरिजिन्स ऑफ सोशल इनइक्वेलिटिज आफ दि सोशल क्लासेज" पृ0-230

4-चाइल्ड : "दि मोस्ट एनशिएंट ईस्ट" ,पृ0-175

5-व्हीलर : "दि इंडस सिविलाइजेशन" , पृ0-94

शहरी आबादी का विकास निकटवर्ती देहातों के किसानों द्वारा अतिरिक्त कृषि उत्पादनों की आपूर्ति के बिना नहीं हो सकता था। सिन्धु घाटी का राजनीतिक ढाँचा सुमेर के राजनीतिक ढाँचे जैसा माना गया है, जहाँ पुरोहित राजा आज्ञाशील प्रजा पर सुगठित अफसरशाही के माध्यम से शासन करता था।[1] जो भी हो, ऋग्वैदिक आर्यों के आने से पहले सैंधव सभ्यता प्रायः नष्ट हो चुकी थी। गंगा की घाटी में आर्य ज्यों-ज्यों पूरब की ओर बढ़ते गए, उन्हें सम्भवतः ताँबे के हथियार रखने वाले लोगों का मुकाबला करना पड़ा, जो उस क्षेत्र के प्राचीन निवासी थे।[2] हो सकता है कि ताम्रयुग के अन्य लोगों की भाँति ये लोग भी वर्गों में बँटे रहे होंगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों के विस्तार के पहले दौर में बस्तियों और अन्य दस्यु आदि लोगों का विनाश इतना अधिक किया गया कि नए समाज में आर्यों के विलयन हेतु उत्तर-पश्चिमी भारत में बहुत कम ही लोग बच रहे होंगे। एक ओर तो बचे हुए लोगों में से अधिकांश लोगों और विशेषतः अपेक्षाकृत पिछड़े वर्ग के लोगों को दासता स्वीकार करनी पड़ी होगी तथा दूसरी ओर आर्यों के समाज में "विश्" की सहज प्रवृत्ति यही रही होगी कि निम्न वर्ग में विलयन करें। आर्य पुरोहितों और योद्धाओं की प्रवृत्ति

1- मैके : "अर्ली इंडस सिविलाइजेशंस" - पृ0- 12-13

2- लाल : "एनशिएंट इंडिया": सं. 9, पृ0- 93

प्राचीन समाज के उच्च वर्ग से मिल जाने की रही होगी । दो ऐसे प्रसंग मिले हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि कुछ मामलों में आर्यों के दुश्मनों को इस नए और मिश्रित समाज में अपेक्षाकृत सम्मानित दर्जा दिया गया था । एक स्थल पर कहा गया है कि इन्द्र ने दासों को आर्यों में परिवर्तित किया ।[1] एक अन्य प्रसंग में चर्चा आई है कि इन्द्र ने दस्युओं को आर्य की उपाधि से वंचित कर दिया ।[2] इन तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दुश्मनों के बचे हुए पुरोहितों और प्रमुखों को आर्यों ने अपने नए समाज में ससम्मान आत्मसात् कर लिया होगा ।

साधारणतया दासों और दस्युओं को एक ही मान लिया जाता है मगर साक्ष्य इसके विपरीत है । वेदों में दस्युहत्या शब्द के प्रयोग तो हैं पर दासहत्या शब्द का प्रयोग नहीं मिलता । आर्यों के अन्तर्जातीय युद्धों में दासों को सहायक सेना के रूप में दिखाया गया है और तीन स्थलों पर "दास-विशों" का उल्लेख[3] करने के साथ-साथ उनको एक सीथियन जनजाति-ईरानी दहे से अभिन्न दिखाया गया है ।[4] दस्युओं और वैदिक आर्यों के बीच समानता की बात प्रायः नहीं आती ।[5]

1- ऋग्वेद , I. 22.I उद्धृत शर्मा "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-94

2- ऋग्वेद, X 49.3 उद्धृत शर्मा "शूद्रों का प्राचीन इतिहास " पृ0- 24

3- ऋग्वेद II. II. 4.I 28.4 और I. 25.2 उद्धृत शर्मा "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-26

4- ऋग्वेद, I. I 357 उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-26

5-शेफर : "एथ्नोग्राफी इन एनशिएंट इंडिया" पृ0- 32

दास सम्भवतः उन मिश्रित भारतीय आर्यों के अग्रिम दस्ते थे जो उसी समय भारत आए जब केसाइट बेबीलोनिया पहुँचे थे {लगभग 1750ई.पू.}। पुरातात्त्विकों का अनुमान है कि उत्तर फारस से भारत की ओर लोगों का प्रस्थान या तो निरन्तर होता रहा अथवा उनका आगमन मुख्यतः दो बार हुआ था, जिनमें पहला आगमन 2000 ई0 पू0 के तुरन्त बाद हुआ था।[1] शायद इसी कारण आर्यों ने दासों के प्रति मेल मिलाप की नीति अपनाई और दिवोदास, बल्बुथ एवं तरुक्ष जैसे उनके सरदार आर्यों के दल मे आसानी से आत्मसात् किए जा सके। अन्तर्जातीय संघर्षों में अधिकतर आर्यों के सहायक के रूप में दासों के उल्लेख का भी यही कारण है। इससे लगता है कि गुलाम के अर्थ में दास शब्द का प्रयोग भारत के आर्येतर निवासियों के बीच नहीं, बल्कि भारतीय आर्यों से सम्बद्ध लोगों के बीच प्रचलित होगा। ऋग्वेद के उत्तरवर्ती काल में दास शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होने लगा था, जिससे न केवल मूल भारोपीय दासों के वंशजों बल्कि दस्यु और राक्षस जैसे आर्य पूर्व लोगों और आर्य समुदाय के उन सदस्यों का भी बोध होता होगा, जो अपने आंतरिक संघर्षों के कारण अकिंचनता या गुलामी की स्थिति में पहुँच गए थे।

1-शाल: "एनशिएंट इंडिया" सं. 9, पृ0-9।

(ii) उत्तर वैदिक काल

वैदिक काल में मूलतः एक जनजाति की हैसियत रखने वाले शूद्र उत्तर वैदिक काल में वर्ण में रूपांतरित हुए । यद्यपि इस §उत्तर वैदिक§ काल में "विश्" का शिल्पी वर्ग शूद्र की स्थिति में पहुँच गया था, फिर भी ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे सिद्ध हो सके कि वे जिन शिल्पों या कृषिकर्मों में लगे हुए थे, उनसे लोग घृणा करते थे । जहाँ तक कृषि का सम्बन्ध है, लोगों के मन में निश्चित भावना थी कि इस कार्य में सहायता दी जाए और इसमें संलग्न रहनेवालों को प्रोत्साहन तथा सम्मान मिले । इसके लिए वे कई प्रकार के घरेलू कर्मकांड और तन्त्र-मन्त्र करते थे ।[1] जहाँ तक शिल्प का प्रश्न है, चमड़े के काम के प्रति भी घृणा के प्रमाण नहीं मिलते ।[2] उस काल के राजनैतिक जीवन में भी शूद्रों की भूमिका उनकी स्थिति के अनुकूल महत्वपूर्ण ही जान पड़ती है । भारतीय आर्यों की राज्य व्यवस्था की निर्माणावस्था में उन्हें राज-काज में हाथ बँटाने का पर्याप्त अवसर मिला । ध्यान देने की बात है कि उन्हें राज्य के लगभग एक दर्जन उच्च कर्मचारियों के उन्नत निकाय में स्थान प्राप्त था[3], जिन्हें रत्निन §रत्नाधिकारी§ कहा गया है । उत्तर वैदिक काल की राज्य व्यवस्था में जो एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, वह है वैश्य और शूद्र से विभेद करते हुए ब्राह्मण और क्षत्रियों को विशेष स्थान प्राप्त कराने की प्रवृत्ति ।

. . . .

1-"अथर्ववेद", III 24, I 142 "वाजसनेयि संहिता," I ,10, उद्धृत शर्मा-"शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-53

2-दास : "दि इकनामिक हिस्ट्री आफ एनशिएंट इंडिया" पृ0-139-40

3-जायसवाल : "हिन्दू पोलिटी," II, 20

घोषाल ने अपनी किताब "हिन्दू पब्लिक लाइफ" में अनेक दृष्टान्त देकर बताया है कि दो प्रभावशाली शक्तियों के रूप में ब्रह्म और क्षत्र का समाज में कितना महत्व था, उनमें परस्पर कितना विरोध था और इसके बावजूद उनकी राजनीतिक मित्रता कितनी गहरी थी ।[1] ब्राह्मण ग्रंथों से पता चलता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों निम्न वर्णों के साथ जिनमें शूद्र भी आते हैं- विवाह कर सकते थे ।[2] शूद्र महिला से उच्च वर्ण के लोगों का विवाह बुरा नहीं माना जाता था मगर इसके विपरीत विवाह की सामान्यतया अनुमति नहीं थी ।

उत्तर वैदिक काल में शूद्रों की स्थिति के सम्बन्ध में जो उल्लेख हैं उनमें सुसंगतता का अभाव है ।[3] उनके अन्तर्विरोधों की व्याख्या अंशतः उन प्रसंगों के कालक्रम के आधार पर कीजा सकती है । साधारणतया धार्मिक अनुष्ठान में, जो जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त था, शूद्रों के सहभाग या सहयोग का निषेध केवल परवर्ती ग्रन्थों में दिखाई पड़ता है । किन्तु इनमें अधिकारों और असमर्थताओं का वर्णन साथ ही साथ किया गया है । इसका कारण यह बताया जा सकता है कि ज्यों-ज्यों जनजातीय समाज का विघटन हुआ और वर्ण विभेद बढ़ते गए त्यों-त्यों शूद्रों की अपनी

. . . .

1-घोषाल : "हिन्दू पब्लिक लाइफ," 1, पृ0-73-80

2-कीथ : "कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया," 1, पृ0-126

3-रैप्सन : "कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया" 1, 129

जनजातीय विशेषताएं विलीन होती गई। इस अवधि में शूद्रों की स्थिति के बारे में विशेष ध्यातव्य बात यह है कि उस वर्ग के रथकार और तक्षन जैसे शिल्पी वर्ग को खास ओहदा दिया गया था । प्रायः काष्ठ और धातु कर्म के सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से ही ऐसा किया गया होगा क्योंकि उनके बिना वैदिक काल के लोगों का विकास और विस्तार नहीं हो सकता था, और खेती-बाड़ी नहीं चल सकती थी ।

आर्थिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर पता चलता है कि जहाँ एक ओर वे मवेशी पालते थे और प्रायः स्वतन्त्र किसान के रूप में अपना कार्य करते थे, वहीं दूसरी ओर उन्हें घरेलू नौकर, खेतिहर मजदूर और कुछ मामलों में गुलाम भी समझा जाता था । कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि अन्त्यज परिवार के एक सदस्य चाण्डाल के प्रति घृणा का भाव व्याप्त था[1] और उनमें अनेक दुर्गुणों का आरोपण किया जाता था । ध्यान देने की बात है कि शूद्र वर्ग में जन्म लेना चाण्डाल की तरह अपवित्र नहीं माना जाता था मगर यह बेहद अवांछनीय जरूर माना जाता था । आगे चलकर ब्राह्मण-क्षत्रियों के आपसी संघर्ष में क्षत्रियों ने उपनिषदों का प्रणयन करते हुए शूद्रों के प्रति अधिकाधिक दमनात्मक हो चले रवैये का विरोध किया (वृहदारण्यक और छान्दोग्य) । यह विचारधारा उत्तर वैदिक कालीन सुधारवादी आन्दोलनों से आगे बढ़ी, पर सूत्रों के संकलनकर्ताओं ने इनका विरोध भी जारी रखा ।

. . . .

1-छांदोग्य उपनिषद 1. 10 . 7 राम शरण शर्मा "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0- 64 से उद्धृत ।

(iii) मौर्य पूर्व काल

मौर्य पूर्व काल में शूद्र की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हुए तथा उसकी दशा और बिगड़ गई। विधि प्रवर्तकों ने उस पुरानी मान्यता पर जोर दिया कि शूद्र की उत्पत्ति सृष्टिकर्ता के पाँव से हुई है[1] और इस आधार पर उन्होने संगति, आहार, विवाह और शिक्षा की दृष्टि से उस पर अनेक प्रकार की सामाजिक अशक्ततायें आरोपित कर दीं। इनके फलस्वरूप कई मामलों में तो उच्च वर्ण के लोगों ने आमतौर से और ब्राह्मणों ने खास तौर से शूद्रों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया। धर्म सूत्रों में ऐसी प्रवृत्ति साफ दिखाई पड़ती है कि ब्राह्मण और शूद्र का सामाजिक विभेद बढ़े। आपस्तम्ब, बौधायन और गौतम का विचार है कि ब्राह्मण को किसी भी हालत में शूद्र का सत्कार नहीं करना चाहिए।[2] इसी प्रकार वैदिक काल के पश्चात् जनजातीय समाज के स्थान पर पूर्णतया वर्ण पर आधारित समाज के आ जाने से शूद्र वर्ण के सदस्यों का प्रशासन में कोई स्थान नहीं रह गया।[3] संभवतया उन्हें सभी तरह के प्रशासकीय पदों से वंचित कर दिया गया और छोटे-मोटे अपराधों के लिए भी दण्ड दिया जाने लगा। पालि ग्रन्थों में उल्लिखित कुछ हीन जातियों, खासकर निषादों और चंडालों को अछूत माना जाता था।[4]

1-बसिष्ठ धर्मसूत्र. I.9.25.13. बौधायन धर्मसूत्र I.10.19.6 उद्धृत राम शरण शर्मा-"शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0- 108

2-आपस्तब धर्मसूत्र II.2.419, बौधायन धर्मसूत्र II. 3.5.14 उद्धृत राम शरण शर्मा-"शूद्रो का प्राचीन इतिहास" पृ0-109

3-आपस्तब धर्मसूत्र II.10.26.4 और 26.5, उद्धृत शर्मा-"शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0- 102

सामूहिक रूप से ये अछूत अंत्य या बाह्य कहे जाते थे, अर्थात वे लोग गाँव या नगर के बाहर रहने वाले थे। इन्ही से अन्त्यज नाम की श्रेणी अस्तित्व में आई।

धुर्वे महोदय के अनुसार अस्पृश्यता की भावना का उद्भव कुछ व्यवसायों को अपवित्र मानने के सिद्धान्त के आधार पर हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका एक प्रमुख कारण आदिम जातियों का संस्कार-हीन जीवन था, क्योंकि ये मुख्यतया शिकारी और बहेलिया के रूप में जीवन बिताते थे और उनकी तुलना में ब्राह्मण समाज के लोग धातुकर्म और कृषि का ज्ञान रखते थे तथा नगर जीवन का विकास कर रहे थे।[1] यह खासकर चंडाल के कार्य के बारे में सत्य था, जो शवों को निपटाता था और जिस कार्य को पुराने विचार के लोग अपवित्र और घृणित समझते थे। नतीजा यह हुआ कि लोग ऐसे व्यक्तियों का संग-साथ छोड़ने लगे। आगे चलकर न केवल निषादों को ही बल्कि चमड़े के व्यवसाइयों और बुनकरों को भी अस्पृश्य माना जाने लगा।

इस काल के धार्मिक सुधार आन्दोलनों में प्रमुख बौद्ध धर्म ने न केवल चारों वर्णों के लिए अपना दरवाजा खोलकर उन्हें संघ में प्रवेश करके भिक्षु बनने की अनुमति दी[2] बल्कि चंडालों और पुक्कुसों को भी निर्वाण प्राप्त करने के योग्य बताया।[3] बौद्धों ने अपने मठों में

1- फिक : "दि सोशल आर्गेनाइजेशन आफ नार्थ ईस्टर्न इंडिया" पृ0-324

2- मझ्झिम निकाय, I, पृ0-211, II, पृ0-182-84 संयुक्त निकाय, I, 99
विनय पिटक, II, पृ0-239, अंगुत्तर निकाय I, पृ0-202
राम शरण शर्मा- "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-123 से उद्धृत

3- जातक, III, पृ0-194, I, पृ0-303, राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-123 से उद्धृत

शूद्रों को प्रवेश देकर मानो उन्हें दीक्षा पाने का प्राचीन जनजातीय अधिकार वापस दिला दिया जिनसे वे ब्राह्मण समाज द्वारा वंचित कर दिए गए थे । आरम्भ मे जैन धर्म ने सभी वर्णों के सदस्यों को मठ मे प्रवेश की अनुमति दी और चण्डालों के उत्थान का भी प्रयास किया । किन्तु बौद्ध और जैन मठों के नियमानुसार यह इष्टकर नही समझा जाता था कि बहुत बड़े श्रमिक वर्ग को संघ मे लेकर सांसारिक कर्तव्यों से विरत कर दिया जाए । कोई दास या ऋणी बौद्ध मठ में तब तक नहीं प्रवेश पा सकता था जब तक कि दास का मालिक उसे दासत्व से मुक्ति न दे दे और ऋणी अपना ऋण न चुका दे ।[1]अपने अनुयाइयों के लिए मानव व्यापार को निषिद्ध कर के[2] कम से कम इन धर्मों ने दास प्रथा के विरूद्ध एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक दृष्टिकोण अपनाया था । बुद्ध ने यह बताने का प्रयास किया कि मुक्ति की खोज मे वर्णो का कोई महत्व नहीं है ।[3]निश्चित ही उनके विचारों से वर्ण व्यवस्था का अन्त नहीं हुआ किन्तु उस युग में उनकी करुणा

1-दीघ निकाय, 1,5, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-12

2-अंगुत्तर निकाय 11,208, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-126

3-फिक : "दि सोशल आर्गनाइजेशन आफ नार्थ ईस्टर्न इंडिया" पृ0-31

के संस्पर्श ने शूद्रों के अन्दर ज्ञान और मुक्ति की भूख जगा दी जिसके बाद उन्हें पूरी तरह निष्क्रिय स्थिति मे रख पाना संभव नहीं था ।

पाणिनि से पर्याप्त पूर्व प्रायः बुद्ध के समय से ही "वासुदेवार्जुनायनों की संगीतियों में एक नवीन जन धर्म का पोषण हो चला था जिसमें समानता का सैद्धान्तिक निरूपण तो आगे चलकर हुआ मगर सबके साथ हरिकीर्तन करने के अधिकार ने शूद्रों को आकर्षित किया और उनमें एक नवीन आत्म-विश्वास की सृष्टि की । यह काल उपनिषत्कालीन ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष का अगला चरण था । बौद्ध संघों और वैष्णव मठों ने ब्राह्मणों को चुनौती दे मुनष्य की समानता का उद्घोष किया था । दोनों के प्रजनक और संचालक प्रायः क्षत्रिय नेता थे । ब्राह्मण वर्चस्व को निर्णायक चुनौती दी गई थी जिससे उसकी चूलें हिल गई थीं । अन्ततः मौका देखकर ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के खिलाफ नवजागृत शूद्र शक्ति से गठजोड़ किया और शूद्र वंशीय महापद्मनन्द के नेतृत्व में चौथी सदी ई० पू० में मगध में प्रथम शूद्र राज्य की स्थापना की ।"सर्व - क्षत्रान्तक" विरुद धारणा करने वाले नन्द ने क्षत्रिय राजकुलों को आर्यावृत्त से उखाड़कर मगध का वह अपूर्व साम्राज्य स्थापित किया जिसकी सीमा बंगाल से सतलज तक और हिमालय से विंध्याचल तक जा पहुँची । इसी शूद्र राज्य की

सेना से भयभीत होकर सिंकदर सतलज से वापस लौट गया था । बहरहाल यह साम्राज्य ब्राह्मण - शूद्र संश्रय की ही तरह टिकाऊ साबित नहीं हुआ ।

§ § मौर्यकाल

मौर्य काल मे एक बार फिर शूद्र समाज के सबसे निचले पायदान पर पहुँच गए । पहले जो दण्ड शूद्रों का अपराध सिद्ध होने पर दिए जाते थे, चाणक्य ने उनकी व्यवस्था अपराध स्वीकार कराने के लिए "अर्थशास्त्र" में की ।[1] मौर्यकाल से पहले उन पर जो राजनीतिक और कानूनी अशक्तताएँ § अपवाद स्वरूप नंदवंश के राज्य को छोड़कर § लादी गई थीं, वे मुख्यतया बनी रहीं ।[2] अशोक ने अपने चतुर्थ स्तम्भ आदेश में अपने बौद्ध आग्रहों के चलते, राजुक को बताया है कि अपने अधीन रखे गए जनपद में वह व्यवहार - समता और दण्ड - समता लागू करे ।[3] इन दोनों शब्दों का निर्वचन"न्याय सम्बन्धी कार्यवाहियों में निष्पक्षता" और "दण्ड में निष्पक्षता" किया गया है ।[4] किन्तु संभवतया दीर्घकालीन सामाजिक पूर्वाग्रहों के कारण यह नीति कारगर नहीं हो सकी ।[5]

1-भगवत शरण उपाध्याय, "खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर" पृ0- 74

2-राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0- 163

3-पिलर इडिक्ट आफ अशोक 4 §दिल्ली - टोपरा शिलालेख § 1.15 उद्धृत राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0- 163

4-कारपस ईस्क्रिप्सनम ईंडिकेरम 1, 125,रामशरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-163 से उद्धृत

5-राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-163

पाणिनि ने §संभवतया§ चंडालों को शूद्रों में शामिल किया था किन्तु अर्थशास्त्र में चाणक्य ने इसका खण्डन किया ।[1] वे उन्हें चतुर्वर्ण व्यवस्था में कोई स्थान नहीं देते । चार वर्णों के अतिरिक्त कौटिल्य ने अंतावसायिनों की जाति का उल्लेख किया है,[2] जो संभवतः चण्डालों के समान ही थे, क्योंकि वे गाँव के बाहर श्मशान के निकट रहते थे ।[3] चण्डालों को निश्चित रूप से इस युग में अस्पृश्य माना जाता था ।[4] मगर अन्य संकर जातियों, यथा पारशवों और निषादों के बारे में विश्वासपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता ।

मौर्यकाल में राज्य की ओर से शूद्रों को बड़े पैमाने पर गुलाम, मजदूर और शिल्पी के रूप में नियोजित किया जाता था । यद्यपि इनकी मजदूरी निर्धारित थी, फिर भी इनकी आर्थिक दशा संकटपूर्ण थी। चूँकि राज्य की ओर से की जाने वाली खेती के लिए पर्याप्त दास

- -

1-चाणक्य, अर्थशास्त्र III. 7, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-165

2-चाणक्य, अर्थशास्त्र III. 18, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-16

3-चाणक्य, अर्थशास्त्र II. 4, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-1

4-चाणक्य, अर्थशास्त्र I. 14, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-1

और कर्मकर उपलब्ध नहीं थे, इसलिए यह आवश्यक समझा गया कि राजकीय भूमि पट्टे पर दे दी जाए। ये बटाईदार प्रायः निम्न वर्ग के होते थे। दूसरी बात यह मालूम होती है कि राज्य की घनी आबादी वाले क्षेत्रों से शूद्रों को मंगाकर उन्हें नई भूमि में कृषिकार्य में लगाया जाता था। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में शूद्रों के प्रति पुराना भेदभाव बना रहा।[1]

"अर्थशास्त्र" से हमें निम्न वर्गों के सामान्य आचरण की झलक मिलती है। यह बताता है कि इस वर्ग के लोग जिस स्थिति में रहते थे, उससे वे बिलकुल खुश नहीं थे। कौटिल्य ने अपराधियों और संदिग्ध लोगों की जो सूची दी है उसमें बहुतेरे ऐसे लोग हैं जिनकी जातियों और व्यवसायों को समाज में हीन माना जाता था। उन्हें हत्यारा, डकैत या कोषों और निक्षेपों के दुर्विनियोग का दोषी समझा जाता था।[2] कौटिल्य का विचार है कि यदि मालिक की हत्या हुई हो तो उसके सेवकों की परीक्षा करके यह जानना चाहिए कि मालिक ने उनके प्रति कोई हिंसापूर्ण व्यवहार तो नहीं किया था।[3] इससे प्रकट होता है कि कभी-कभी घरेलू नौकर अपने मालिक की जान लेने का प्रयास करते थे।

1-राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0- 167

2-चाणक्य, अर्थशास्त्र । 6, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ0-163

3-चाणक्य, अर्थशास्त्र । 7. उद्धृत शर्मा; "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-161

अनेक उदाहरणों से पता चलता है कि उस समय शूद्र वर्ग के सदस्यों का झुकाव अपने मालिकों के प्रति अच्छा नहीं था । चूँकि उस समय उनकी प्रतिक्रिया व्यक्त करने का कोई शान्तिपूर्ण तरीका नहीं था, इसलिए वे अपनी प्रतिक्रिया डकैती, सेंधमारी हत्या और राज्य के प्रति विद्रोही गतिविधियों में भाग लेकर व्यक्त करते होंगे । उनके किसी संगठित विद्रोह की सूचना नहीं मिलती जबकि दूसरी ओर शूद्रों को सेना में भर्ती करने के लिए कौटिल्य का तैयार होना उस विश्वास का परिचायक है जो निष्ठुर नियंत्रण की उसकी नीति से उत्पन्न हुई थी ।[1]

1-राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-168

(V) मौर्योत्तर काल

इस काल में शूद्रों की स्थिति की अधिकांश सीधी जानकारी मनु के विधिग्रन्थ {मनुस्मृति} से प्राप्त हुई है जो सामान्यतया दो सौ ई० पू० से दो सौ ई० सन् तक की मानी जाती है।[1] मनु का शूद्र विरोध जगजाहिर है मगर इसके आधार पर यह कहना उचित न होगा कि मौर्योत्तर काल में शूद्रों की स्थिति की अधिकतम अवनति हो चुकी थी। इस शूद्र विरोध को ऐसा अतिवादी उपाय मानना चाहिए जो नई शक्तियों के उद्‌भव से समाज के पुराने ढाँचे को टूटने से बचाने के लिए वांछनीय था। मनु के विधिग्रंथ में भी शूद्रों की स्थिति में हुए उन बहुतेरे परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है, जो ब्राह्मणों के विरूद्ध उनके संघर्षों, नए-नए लोगों के आगमन तथा कला एवं शिल्प के विकास के परिणाम थे।[2]

इस तथ्य के बावजूद कि मनु ने शूद्रों की दासता की बार-बार चर्चा की है, वे अब उस पैमाने पर दास और मजदूर नहीं थे जिस पैमाने पर वे मौर्य काल में थे। प्रायः मौर्यों के राजकीय प्रक्षेत्रों {फर्मों} में काम करने वाले दास और भाड़े के मजदूर कर चुकाने वाले कृषक बनते जा रहे थे। मनु ही प्रथम लेखक हैं जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में शूद्र को बटाईदार माना है।[3] "अर्थशास्त्र" में बटाईदार को उत्पादन का

1-बुहलर, "सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट" पृ0- xl - x lll.

2-राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-205

केवल 1/5या 1/4 हिस्सा दिया गया है, किन्तु मनु ने उसके लिए उत्पादन के आधे भाग की व्यवस्था दी[1] (अथवा उन्हें देनी पड़ी) । प्रायः किसी दूसरे काल में शूद्रों की संख्या इतनी नहीं बढ़ी जितनी कि इस काल में। बहुतेरी आदिम जातियों और बाह्य तत्वों को मिलाने के उद्देश्य से मनु ने अधिकांश संकर जातियों को शूद्रों में मिला लिया ।[2] किन्तु ऐसा नहीं मालूम होता कि जिस प्रकार पुराने शूद्र दासों और भाड़े के मजदूरों के रूप में बहाल किए जाते थे,उस प्रकार इन नए शूद्रों की बहाली होती थी । उन्होंने अपने पुराने व्यवसायों को अपनाया और संभवतया उन्हें खेती के नए तरीके सिखाए[3], जिससे वे क्रमशः करदाता किसान बने । इस प्रकार एक ओर तो आदिम जातियाँ ब्राह्मण कालीन समाज से सभ्य जीवन का ज्ञान प्राप्त करके लाभान्वित हुईं और दूसरी ओर ब्राह्मण कालीन समाज को भी उत्पादनकर्ताओं की संख्या बढ़ाने के कारण अपनी आन्तरिक कमजोरियाँ दूर करने का अवसर मिला।[4]

- -

1-अर्थशास्त्र ।। 25. मनुस्मृति । 253, राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-205 से उद्धृत

2-के0वी0 रंगस्वामी अयंगर, "पोलिटिकल एण्ड सोशल आस्पेक्ट्स आफ दि सिस्टम आफ मनुस्मृति" पृ0- 108

3-कोसंबी: "जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरिएंटल सोसाइटी" पृ0-41

4-राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-206

शिल्पियों के नए संघ बनने और नए-नए हस्तशिल्पों का उदय होने से उस काल के न केवल आर्थिक जीवन में, बल्कि शूद्रों की स्थिति में भी अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए । सर्वशक्तिसम्पन्न मौर्य साम्राज्य का पतन हो जाने पर इन संघों के जरिए शिल्पियों को अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता मिली, जिससे उनकी हैसियत भी कुछ बढ़ी । यह बात इन शिल्पियों द्वारा बौद्धों को दिए गए अनेकानेक दान के पुरालेखों से प्रमाणित होती है ।

इस काल में विदेशियों के आगमन से वर्ण-व्यवस्था का बन्धन शिथिल पड़ा । ग्रीकों, शकों और पार्थियनों की संख्या भले ही बड़ी न रही हो, पर कुषाणों के समय की अनेक प्राप्त वस्तुएँ यथा सिक्के, टेराकोटा और मूर्तियाँ, जो सम्पूर्ण उत्तरी भारत में मिली है, बताती हैं कि वे पर्याप्त संख्या में आए थे । स्वभावतया इससे तत्कालीन आबादी बिखरी होगी और नई-नई बस्तियाँ बसी होंगी और इस तरह ई०सन् की पहली शताब्दी में लोगों में गतिशीलता आई होगी । चूँकि जाति प्रथा मुख्यतया स्थिर जीवन पर निर्भर होती है, इसलिए इन जातीय विप्लवों से उच्च वर्णों के विशेषाधिकार की बुनियाद कमजोर हुई होगी और शूद्रों की स्थिति पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ा होगा । रोम तथा

अन्य देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों के विकास के फलस्वरूप व्यापारिक बन्दरगाहों और देश के भीतर के भी कुछ अन्य नगरों में जातिजन्य कटुता अवश्य घटी होगी, जिससे निम्न वर्ग के लोगों की सामाजिक स्थिति में सुधार आया होगा ।

इसी प्रकार शूद्रों की कानूनी और राजनीतिक स्थिति में भी हमें कुछ सुधार दिखाई पड़ते है । शूद्रों को गाली देने के कारण ब्राह्मणों को दण्डित करने का जो विधान मनु ने बनाया है, वह बड़ा महत्वपूर्ण है।[1] क्योंकि धर्मसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण इसके लिए दण्ड का भागी नहीं था । पुनः गौतमी पुत्र शातकर्णि ने (डी० सी० सरकार के अनुसार) अवरों का समर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता महसूस की थी[2] जिससे पता चलता है कि उन्हें कितना महत्व दिया जाता था।

अतं में मनु ने वसिष्ठ को शूद्र का जनक बताया है जिससे उनकी (शूद्रों की) अच्छी सामाजिक और धार्मिक स्थिति का बोध होता है ।[3] शूद्रों की धार्मिक स्थिति सुधरी थी। इसका आभास इस तथ्य से भी होता है कि वे (विष्णु पुराण के अनुसार) नामधेय संस्कार सम्पन्न

1-मनुस्मृति III, 268, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-206

2-वसिष्ठी पुत्र पुलुमावि का नासिक - गुफा उत्कीर्ण लेख, II.5-6, उद्धृत राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-207

3-मनुस्मृति III 196-198, उद्धृत शर्मा "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-207

कर सकते थे ।[1] यह सुधार कुषाण शासकों के उदार धार्मिक दृष्टिकोण के कारण भी हुआ होगा । कट्टर ब्राह्मणवाद का समर्थक होने के बजाय वे मुख्यतया शैव और बौद्ध थे तथा निम्न वर्ग के प्रति उनका दृष्टिकोण अच्छा था । सातवाहन के राज्यों में भी ऐसी ही बातें हुई होंगी, जहाँ ई0 सन् की पहली और दूसरी शताब्दियों में निस्संदेह बौद्ध धर्म का बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव था ।

शूद्रों की स्थिति में परिवर्तन के इन लक्षणों से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि जिस पुराने समाज ने उन पर अनेकानेक अशक्तताएँ लादकर उन्हें गुलाम बना रखा था, वह विलीन होने लगा था और उसकी जगह ऐसा नया समाज पनप रहा था जिसने उन्हें बेहतर स्थान दिया था । आगे चलकर परिवर्तन की इस प्रक्रिया को गुप्त काल में और बढ़ावा मिला ।

1-मनुस्मृति ।। 30-1, राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-207 से उद्धृत

(vi) गुप्तकाल

गुप्त काल में वर्ण व्यवस्था की जकड़ ढीली होने के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं जिसके चलते शूद्रों की स्थिति में उल्लेखनीय सुधार हुआ ।[1] वर्ण प्रथा का नियम था कि शूद्र को दास बनाना चाहिए । पर गुप्तकालीन पुराणों में जो कलि का वर्णन मिलता है, उससे पता चलता है कि वैश्य और शूद्र अपने-अपने धर्म का पालन नहीं करते थे । दास प्रथा के कमजोर होने का मुख्य कारण था, बँटवारों और दानों के फलस्वरूप भूमि का टुकड़ों में बँटते जाना । भूमि के बँटवारे की चर्चा सर्वप्रथम नारद[2] और वृहस्पति[3] की अपेक्षाकृत परवर्ती श्रुतियों में पाई जाती है जिससे ध्वनित होता है कि गुप्त काल के बीच या अन्त में बड़ी-बड़ी जोत रखने वाले बड़े-बड़े संयुक्त परिवार छोटे-छोटे टुकड़ों मे विभक्त होने लगे । जब भूमि के बँटवारे का सिद्धान्त मान्य हो गया, तब उत्तर भारत की उर्वर नदी घाटियों में घनी आबादी कृषि योग्य भूमि के विखण्डीकरण की प्रक्रिया में तेजी लाए बिना कैसे रह सकती थी ? भूमि का रकबा कम होने के कारण भूस्वामियों का

1-राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0- 226

2-नारद स्मृति XIII. 38, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-226

3-वृहस्पति स्मृति XX I. 10.28.43.53 और 64, उद्धृत शर्मा "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-226

परिवार अपने खेतों को स्वयं संभाल सकता था, स्थाई रूप से भारी संख्या में शूद्र दास और मजदूर रखने की जरूरत नहीं थी ।

व्यापार और वाणिज्य की तीसरी शताब्दी में भारी उन्नति हुई ।[1] इनकी तरक्की में शिल्पी और व्यापारी के रूप में शूद्रों की भूमिका महत्वपूर्ण थी । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि शूद्र वाणिज्य कर सकता है।[2] संभवतः गुप्तकाल में किसान के रूप में भी शूद्रों ने प्रगति की और देश के कृषि मूलक अर्थतन्त्र को सुदृढ़ बनाने में अपना योगदान दिया । इस काल की उल्लेखनीय धार्मिक घटना है शूद्रों के दान देने के अधिकार (जिससे स्वर्ग मिलता था) पर जोर ।[3] इससे भी शूद्रों की बेहतर आर्थिक स्थिति का पता चलता है ।

ऐसा लगता है कि दण्डविधान में कमिद के एक उत्कीर्ण लेख में मानहानि, हमला और हिन्सा के लिए वर्णानुसार दण्डों का उल्लेख नहीं है ।[4] फाहियान ने बताया है कि मध्य देश में हर अपराधी को उसके अपराध के गुरूत्व के अनुसार दण्ड मिलता था।[5] अर्थात् अपराधी को उसके वर्ण के अनुसार दंड नहीं दिया जाता था ।

1-याज्ञवल्क्य स्मृति II 265, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-233
2-याज्ञवल्क्य स्मृति I 120, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-233
3-मार्कण्डेय पुराण 28.3-8, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-253
4-"जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल (कलकत्ता सीरीज II) I पृ0-118, उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-239
5-एस.बील : ट्रैवेल्स आफ फाहियान, पृ0- 54-55

इधर बौद्ध विचारक जन्म मूलक वर्णभेद का खण्डन करते रहे[1] और उधर कई सुधारवादी विचारधाराओं विशेषकर वैष्णव सम्प्रदाय का उदय हुआ, जिससे बहुत हद तक शूद्रों को धार्मिक समता प्राप्त हुई। वैष्णव धर्म गुप्तकाल में विकास की चोटी पर पहुँच गया था जब न केवल उत्तर भारत में अपितु दक्षिण और पश्चिम भारत के कई भागों में इस सम्प्रदाय के अद्वितीय प्रभाव को प्रमाणित करने वाले साक्ष्य भारी मात्रा में मिलते हैं।[2] वैष्णव ग्रन्थों में इस बात पर हमेशा जोर डाला जाता रहा कि कृष्ण, नारायण या वासुदेव की भक्ति के द्वारा स्त्रियाँ और शूद्र भी मुक्ति पा सकते है।[3] भगवान को यह घोषित करते हुए चित्रित किया गया है कि ब्राहमण से लेकर श्वपाक तक सभी मेरी भक्ति से पवित्र हो जाते हैं।[4] श्रद्धालु और भक्त श्वपाक मुझे उस ब्राहमण से अधिक प्रिय है जो अन्य गुणों से समन्वित रहने पर भी भगवान का भक्त नहीं है।[5] शैवों का द्वार भी, कमोवेश ऐसे ही मन्तव्यों की घोषणा के साथ, चारों वर्णों के लिए खुला था। तन्त्र में भी, जो

1-वज्रसूची (ई.ई.) और (जी आई) पृ0-8, राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास पृ0-254 से उद्धृत

2-के0 जी0 गोस्वामी: "वैष्णविज्म पृ0-132

3-भगवद्‌गीता IX. 32, राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-254 से उद्धृत

4-भागवत पुराण III 16.6 राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ-254 से उद्धृत

5-भागवत पुराण III 33.7, राम शरण शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-254 से उद्धृत

वैष्णव और शैव दोनों से सम्बद्ध था, कर्मभेद नहीं माना गया था ।[1] गुप्तकाल के शासक वर्ग प्राय: वैष्णव या शैव थे जो वर्णवादी आग्रहों से संचालित होते थे ।

सुधारवादी सम्प्रदायों के प्रभाव के फलस्वरूप इस काल के धार्मिक ग्रन्थों का आग्रह कर्मकांडों और संस्कारों से हटकर सदाचार पर आ गया जो व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा का नियामक है । महाभारत और पुराणों के उपदेशात्मक भागों में बार बार इस तरह की बातें कही गई[2] जैसे कि जो शूद्र शुद्ध हृदय वाला और मन वश में रखने वाला है वह न केवल (यज्ञोपवीत संस्कार के बिना ही) द्विज हो जाता है बल्कि द्विजों की भाँति पूजनीय भी हो सकता है ।[3]

गुप्त काल में शूद्रों की हैसियत में भारी परिवर्तन हुए यही नहीं कि मजदूरों, कारीगरों और भारवाहकों की मजदूरी की दरें बढ़ीं बल्कि दास और मजदूर लोग धीरे-धीरे बटाईदार और किसान होते जा रहे थे । यह परिवर्तन शूद्रों की राजनीतिक सवैधानिक स्थिति में व्यापक

1-बी0 भट्टाचार्य:जाड्यसंहिता "फोरवर्ड" पृ0-34

2-अनुशासन पर्व 143-51 उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-25

3-वनपर्व 215.13 उद्धृत शर्मा, "शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-255

रूप से प्रतिफलित हुआ । शान्ति पर्व में शूद्र मन्त्री नियुक्त करने के उपदेश[1] को महत्व न भी दें तो इसमें संदेह नहीं कि शिल्पी संघों के प्रधान जिला प्रशासन के कार्य से जुड़े थे और संकट की घड़ियों में शूद्रों को अस्त्र उठाने का अधिकार मिल गया था । हाँ अन्त्यजों की सामाजिक स्थिति पहले से भी बुरी हुई थी । यद्यपि सिद्धान्ततः वे शूद्रों में गिने जाते थे मगर व्यवहारतः वे एक अलग समुदाय थे । जहाँ तक शिक्षा का प्रश्न है शूद्रों को शास्त्रों के अध्ययन का अधिकार मिल गया था ।[2] संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कुछ अपवादों को छोड़कर गुप्त काल में शूद्रों की स्थिति में चौतरफा विकास हुआ जो तेजी से होते हुए सामाजिक परिवर्तन का द्योतक है ।

1-शान्ति पर्व 85.7-10 , उद्धृत शर्मा,"शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-256

2-महाभारत XII 319.87, उद्धृत शर्मा,"शूद्रों का प्राचीन इतिहास" पृ0-248

(vii) गुप्तोत्तर काल

गुप्तों के बाद फिर देश में उथल-पुथल हुई । हूणों ने गुप्तों के साम्राज्य को टुकड़े-टुकड़े कर डाला । उनके सारे प्रान्त मय उनकी व्यवस्था के, बिखर गए । हूणों ने पहले ब्राहमण-क्षत्रियों और शूद्रों, सबको एक ही चाबुक से हाँका । शीघ्र ही शान्ति होने के बाद जब हूणों ने देश की सामाजिक वस्तुस्थिति को समझा तब उन्होंने ब्राहमणों का आदर किया । परिणाम स्वरूप वे आबू के पर्वत पर वसिष्ठ के अग्नि-कुंड से निकले हुए क्षत्रिय घोषित कर दिए गए । हूणों की उच्च वर्णीय हिन्दुओं के साथ एकता स्थापित हुई और शूद्र एक बार फिर अपनी पुरानी स्थिति में ही रह गए ।

विदेशी हूणों, गुर्जरों और पह्लवों के हमलों से उपजी अस्थिरता में शूद्रों को कहीं-कहीं अपनी स्थिति मजबूत करने में सहायता मिली । प्राचीन काल में स्थापित शूद्र वंशीय नन्द राज्य की तरह इस समय सुदूर पूर्व में, मगध और बंगाल की भूमि पर शूद्र वंशीय शासकों ने अपनी सत्ता स्थापित की । पश्चिम में भी अवसर पाकर शूद्रों ने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित किए । इनमें से एक सिहरस राय ने हर्ष से काफी लोहा लिया था जिसका उल्लेख हुएनसांग भी करता है । इसने मकरान के अरबी गर्वनर और ईरान के दुर्धर्ष शासक हज्जाज से लोहा लिया था और अपने जीते जी बलूची सरहद पर अरबों को पैर भी नहीं धरने दिया था । मगर हर्ष की सेना के बाह्य हमलों और अपने ही ब्राहमण

मन्त्रियों के आन्तरिक षड्यन्त्रों से इस राज्य का अन्त हुआ ।

मध्य काल

जिस प्रकार प्राचीन काल मे नन्द वंश का उत्कर्ष बौद्ध धर्म की भूमि पर हुआ था उसी प्रकार सिंध के शूद्र राजा भी बौद्ध उपासक थे और बंगाल और मगध में जिस शूद्र पाल वंश का साम्राज्य स्थापित हुआ, वह भी बौद्ध धर्मावलम्बी ही था ।

हर्ष की मृत्यु के बाद भास्करवर्मन, यशोवर्मन और मुक्तापीड़ के बार-बार के हमलों से तंग आकर बंगाल की जनता ने पारम्परिक राजाओं और द्विजों को किनारे कर के निर्वाचन विधि से शूद्रवंशीय गोपाल को अपना राजा चुन लिया । जनता की ताकत के सहारे गोपाल ने भी अपने प्रति जताए गए विश्वास की रक्षा करने में कामयाबी हासिल की । गोपाल ने जो बौद्ध धर्म का आदर और प्रचार किया वह किसी धार्मिक मत - स्थिति के कारण नहीं, वरन् राजनीतिक कारणों से बाध्य होकर । उसकी राज्य सत्ता के पाए निर्धन जनता में लोकप्रिय बौद्ध धर्म के ऊपर टिके हुए थे ।[1]

गोपाल की इस नीति का उसके उत्तराधिकारियों ने सर्वथा समर्थन किया । वे बौद्ध बने रहे और उन्होंने प्राचीन बौद्ध विद्यापीठों का पुनः संगठन और नयों का निर्माण किया । उनका यह विश्वास था कि बौद्ध दर्शन के न्याय और तर्क संम्मत दृष्टिकोण और ज्ञान

1-भगवत शरण उपाध्याय, "खून के छीटे इतिहास के पन्नों पर" पृ० 79

से ही जनता का कल्याण सम्भव होगा । उनके निरीक्षण और सक्रिय योग से नालंदा विश्वविद्यालय ने इतना विस्तृत रूप धारण किया । इसके अतिरिक्त उन्होंने उदन्तपुरी और विक्रमशिला के विद्यापीठों की नींवें डाली ।

जिस प्रकार ब्राह्मणों की सक्रियता से सिंध का शूद्र राज्य नष्ट हो गया उसी प्रकार उनके सक्रिय वैमनस्य से बंगाल का यह शूद्र पाल साम्राज्य भी नष्ट हो गया । इसके स्थान पर भी सिंध के ब्राह्मण राज्य की भाँति ब्रह्म-क्षत्रिय सेनों का ब्राह्मण राज्य स्थापित हुआ और नियति की क्रूर विडम्बना ही थी कि जिस प्रकार सिंध के ब्राह्मण छछ राजवंश का अन्त कालान्तर में इस्लामी सेनाओं के द्वारा हुआ,उसी प्रकार इब्न बख्त्यार की सेनाओं ने सेनों का अन्त कर दिया ।

इस काल में अपने उत्कर्ष के दौर में शूद्रों ने एक नवीन प्रकार के पौरोहित्य की सृष्टि भी की और ब्राह्मण का कलेवर भी धारण किया । महायान से मन्त्रयान और मन्त्रयान से वज्रयान का जो विस्तार गंजाम से कामरूप और कामरूप से विंध्याचल तक हुआ उसमें शूद्रों की पुरोहित परम्परा बनी, उनके भी अनेक वर्गों और वर्गों ने वज्रयानी-कापालिक-औघड़ त्रिवर्ग में शामिल होकर शक्ति संचय किया । इस प्रक्रिया की चरम परिणति पुरी के मन्दिरों के भीतर सर्वथा निर्वर्ण व्यवस्था के विधान के साथ हुई ,जब वहाँ

ब्राह्मण और अन्त्यज दोनों का परस्पर स्पर्श और सहभोज आवश्यक तथा अनिवार्य माना गया ।[1] शूद्रों की परम्परा वाले धार्मिक विधानों में उल्लेखनीय रूप से ब्राह्मणों की चिरस्थापित मान्यताओं के विपरीत मूल्यों का सृजन हुआ ।

ह्वेनसांग द्वारा छठी शताब्दी के कान्यकुब्ज (कन्नौज) का वर्णन कठोर जाति प्रथा और चंडालों (अन्त्यजों) की भयानक बदहाली का चित्र है । हर्षवर्धन की तरह ही क्षणभंगुर और तकरीबन उतने ही बड़े एकाध साम्राज्य छठी शताब्दी के बाद दक्षिण और पूर्वी भारत में फिर जरूर अस्तित्व में आए, किन्तु खासकर उत्तर भारत किसी स्थाई बड़े केन्द्रीय शासन के अधीन नहीं रह सका। नतीजे के तौर पर अगली चार-छै शताब्दियों तक उत्तर भारत में हिन्दू सामाजिक संरचना अभूतपूर्व रूप से कठोर बनी और चरम अमानुषिकता को प्राप्त हुई । उल्लेखनीय है कि यही दौर भारतीय सामंतवाद के चरम विकास का भी दौर है । ग्यारहवीं शताब्दी की शुरूआत में अलबरूनी हमें उत्तर भारत का दर्शन कराते हुए बताता है कि, शूद्र ब्राह्मणों के नौकर के समान है । यदि यह सिद्ध हो जाता था कि किसी

1-भगवत शरण उपाध्याय, "खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर" पृ०- 80

वैश्य या शूद्र ने वेदों का पाठ किया है तो उसकी जीभ काट ली जाती थी । अन्त्यज गाँव व नगरों के बाहर रहा करते थे । वास्तव में वे लोग अवैध बच्चों की भाँति समझे जाते थे । उनके साथ समाज से बहिष्कृत व्यक्ति की तरह व्यवहार किया जाता था । वे केवल पूर्वाज्ञा से और निश्चित समय पर ही निकृष्ट कार्य जैसे सफाई इत्यादि ,जिनके बिना नगर का काम चल नहीं सकता था, करने के लिए आते थे । यदि कोई अपनी जाति या व्यवसाय का कर्तव्य छोड़ना चाहता था और दूसरी जाति का व्यवसाय या कर्तव्य ग्रहण करना चाहता था,चाहे वह दूसरी जाति के लिए सम्मान का विषय ही क्यों न हो,तो वह पाप समझा जाता था ।

इस दौर में लिखे गए संस्कृत वाङमय के अध्ययन से भी कुछ इसी तरह का चित्र उभरता है .। जैसे आठवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच लिखित स्कंदपुराण हमें बताता है कि राम ने एक धार्मिक अनुष्ठान के पूरा होने पर 18000 ब्राह्मणों को 36000 वैश्य और 144000 शूद्र तथा अनेक गाँव दान में दिए । इतिहास हमें यह भी बताता है कि इस दौर में न केवल वैश्यों और शूद्रों के बीच की विभाजन रेखा कमजोर हुई,बल्कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों के एक बड़े अंश का भी किसानों के रूप मे पतन हुआ । अन्त्यज

तो जानवरों की अवस्था में ही धकेल दिये गए । जातियों की प्रांजलता और क्षेत्र विशेष के अनुसार भेद संभवतः इस दौर में अपने चरम पर पहुँचा ।

शूद्रों की संख्या का भारी बाहुल्य ब्राह्मणों और क्षत्रियों को बेशक निर्णायक चुनौती दे सकता था किन्तु जातिगत विभाजन उनकी आपसी एकता में भी बाधक था । यह नकारात्मक कारक परम्परावाद की जकड़न और प्रचलित धार्मिक - सामाजिक विचारधारा के असर से कहीं अधिक इस बात के लिए उत्तरदायी रहा कि शूद्रों के किसी संगठित सशस्त्र विद्रोह की गाथा हमें मध्यकालीन भारत में नहीं मिलती । वैसे स्थानीय असंगठित और छिटपुट विद्रोह की ढेरों नजीरें उस जमाने में भी मिलती हैं । जातिगत स्वार्थ की एकता के अभाव में आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों की एकता ही उन्हें एकताबद्ध कर सकती थी और सामंती समाज में सहज सामाजिक विकास के दौरान यह संभव नहीं था । यही कारण है कि मध्यकालीन भारत में, यहाँ तक कि ब्रिटिश भारत में भी, शूद्रों के विद्रोहों के जो छिटपुट उदाहरण मिलते हैं वे एक जाति के विद्रोह के रूप में ही मिलते हैं । जैसे बंगाल में महिपाल के शासनकाल में कैवर्तों का सशस्त्र विद्रोह, ब्रिटिश शासन के खिलाफ 1820-21 के होज विद्रोह , 1831-33 के कोल और भूमिज विद्रोह , 1855-57 के संथाल विद्रोह और 1899 के मुंडा विद्रोह में वे शामिल जरूर थे , किन्तु ये

मूलत: आदिवासी विद्रोह थे ।

तुर्क-अफगान शासन ने हिन्दू समाज की इस संरचना में कुछ हस्तक्षेप किया । एक तो नगर प्राचीर के बाहर रहने वाले शूद्रों और अन्त्यजों के एक हिस्से को नगर में रहने का अधिकार मिला । दूसरे फौज में क्षत्रियों की भर्ती का एकाधिकार खत्म हुआ और उसमें शूद्र और यहाँ तक कि अन्त्यजों की एक अच्छी खासी संख्या आर्थिक लाभ के चलते मुसलमान बनी । कहा जाता है कि फिरोजशाह तुगलक द्वारा कतिपय पेशों पर करों का बोझ घटाए जाने से इस प्रक्रिया को अच्छी गति मिली । जैसे सब्जी, पान कपड़े की रंगाई, कसाईगिरी, रूई धुनाई, मछलीमारी, साबुनसाजी आदि । विचारधारात्मक-सांस्कृतिक तौर पर आन्तरिक भाईचारे का इस्लामी प्रभाव कोई कम असरकारी नहीं था ।

(ix) निष्कर्ष

हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के टकराव और सामंजस्य से शूद्रों के संदर्भ में हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक पहुँचते हैं-

(1) हिन्दू अभिजात वर्ग अत्यन्त रूढ़िग्रस्त होने के चलते किसी सामाजिक क्रान्ति का नेतृत्व करने में असमर्थ रहा । इसलिए शूद्रों और दलितों का एक अंश निष्क्रिय रहा और एक अन्य छोटा लड़ाकू अंश इस्लाम धर्म की ओर बढ़ गया । क्योंकि इस्लाम उन्हें स्पष्टतः सशस्त्र विद्रोह का विकल्प दे रहा था, चाहे वह जितनी सीमित मात्रा में और जितना सतही क्यों न हो ।

(2) इस्लाम के दबाव से और राजनीतिक प्रश्रय के अभाव में शूद्रों और अन्त्यजों के प्रति बरताव में कुछ ढिलाई आनी आवश्यक थी । एक बार इस ढिलाई के आ जाने के बाद पूर्व स्थिति में लौटने के लिए कोई तैयार न था ।

(3) इस्लाम के असर से खुद हिन्दू धर्म के अन्दर भी सुधार की आवाज तेज हुई जिसने प्रमुख रूप से भक्ति आन्दोलन में अभिव्यक्ति पाई । कबीर और रैदास जैसे महात्माओं ने शूद्रों के आक्रोश और विद्रोह को वाणी दी । नानक ने अपने शिष्यों में शूद्रों को विशेष स्थान दिया और गुरु गोविन्द

सिंह के खालसा पंथ में इनका बाहुल्य था । नारनौल के सतनामियों में इनकी बड़ी संख्या थी ।

दलितों की ऐतिहासिक सामाजिक पृष्ठभूमि की चर्चा को समेटते हुए हम कह सकते हैं कि इस सम्बन्ध में उत्तर भारत और दक्षिण - पश्चिम भारत के इतिहास में उल्लेखनीय अन्तर दिखाई पड़ता है । उत्तर भारत में आर्यों ने वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था के सूत्र गढ़े और उन्हें व्यवहार का रूप दिया । प्राचीन काल में इन व्यवस्थाओं के विरूद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप सबसे प्रबल विद्रोह §मुख्यतः बौद्ध और जैन धर्म के रूप में§ भी इसी भूमि पर हुए । गुप्त और उनके बाद के दौर में हिन्दू धर्म और उसकी जातिप्रथा ने यहीं सबसे जघन्य स्वरूप अपनाया और फिर मुस्लिम आक्रमण और उसके संसर्ग से भक्ति आन्दोलन के रूप मे ब्राह्मणवाद के विरूद्ध दूसरे प्रबलतम विद्रोह की साक्षी भी यही भूमि बनी । इस बार यह विद्रोह हुआ था बौद्धों और जैनों की तरह हिन्दू धर्म और उसके सामाजिक ढाँचे के बाहर जाकर नहीं बल्कि मुख्यतः उसके भीतर से । इसलिए इस मध्यकालीन विद्रोह का महत्त्व और बढ़ जाता है । संभवतः इसी कारण उत्तर भारत में दलितों पर होने वाले अमानुषिक अत्याचार मलाबार §जिसे देखकर वहाँ के ब्राह्मणों को विवेकानन्द

ने मानसिक रूप से विक्षिप्त कहा था) और महाराष्ट्र (पेशवाशाही के दौर में जिसका लोमहर्षक वर्णन धनन्जय कीर ने किया है) की सीमा उत्तर मध्यकाल और उसके परवर्ती दौर में नहीं छू सके। यह इतिहास की विडम्बना ही है कि आज उत्तर भारत के दलितों पर ही सबसे जघन्य अत्याचार हो रहे हैं और ब्राह्मणवाद के विरूद्ध पेरियार, फूले और अम्बेडकर के नेतृत्व में आधुनिक काल में हुए, तीसरे महा विद्रोह से यह भूमि लगभग अछूती रह गई।

दक्षिण भारत से यों तो आर्यों का सम्पर्क 800 ई० पू० से ही होना शुरू हो गया था (पौराणिक आख्यानों के अनुसार अगस्त्य मुनि के जरिए) तथापि यह सम्पर्क ठोस रूप ले सका मौर्यों के शासन विस्तार के साथ। बौद्ध धर्म तो यहाँ बहुत बाद में, प्राय: तीसरी शताब्दी ई० में पहुँच सका था। दक्षिण भारत वस्तुत: कुषाणों के जमाने से ही ब्राह्मणवाद का अजेय दुर्ग बन गया था। इसके बाद सदियों तक उत्तर भारत में जारी बौद्ध प्रभाव के विरूद्ध लड़ने के लिए दक्षिण के हिन्दू राजा ब्राह्मणवाद के सबसे विश्वसनीय आश्रयदाता और मित्र साबित हुए। हिन्दू पुर्नजागरण के प्रतीक शंकराचार्य, रामानुज और कुमारिल भट्ट तथा मध्यकाल के संस्कृत वाङ्मय के अधिकाश नक्षत्र (जैसे राजशेखर, पद्मपाद, वरदराज, कुमारदास, मम्मट, वात्स्यायन, कुलशेखर, महेन्द्र वर्मा, त्रिविक्रम भट्ट, बिल्हण, कदम्ब आदि) सब

दक्षिण से ही आए थे । फिर मुस्लिम प्रभाव का दक्षिण में विस्तार बहुत देर से हुआ और प्राय: महाराष्ट्र और कर्नाटक तक सीमित रहा । भक्ति आन्दोलन वहाँ जरूर उत्तर से पहले शुरू हुआ किन्तु शूद्रों के मुसलमान बन जाने के दबाव के बगैर वह एक विद्रोह का रूप कभी धारण न कर सका । परवर्ती भक्तिवाद,विशेषकर ज्ञानदेव,नामदेव,तुकाराम महानुभाव पंथ आदि ने तथा मुसलमानों के साथ लगातार होने वाले टकराव और सामंजस्य ने महाराष्ट्र को भी उत्तर भारत की तरह उदारता की तरफ प्रेरित किया लेकिन शिवाजी द्वारा "हिन्दू पदपादशाही" की स्थापना और खासकर बाजीराव की पेशवाई ने महाराष्ट्र के इतिहास में सामाजिक परिवर्तन को ही जन्म दिया ।

यही वह विशिष्ट सामाजिक पृष्ठभूमि थी जिसने खासतौर पर महाराष्ट्र में और आमतौर पर दक्षिण पश्चिम भारत में ब्राह्मणवाद के खिलाफ हमारे इतिहास के तीसरे महाविस्फोट को जन्म दिया जिसका नेतृत्व ज्योतिबा फूले और बी0आर0अम्बेडकर ने किया था । ब्राह्मणवाद वहाँ तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक परिवेश के स्वाभाविक निष्कर्ष उदारतावाद को ठुकरा कर वापस अपने जघन्य पौराणिक ,यहाँ तक कि उससे भी घृणित रूप में जैसे

दलितों की नाभियों में बारूद भरकर और उसके पलीते में आग लगाकर मनोरंजन और उनकी स्त्रियों का दूध दुहकर भी कराधान जैसे कुकृत्यों की तरफ लौट गया । शूद्रों अथवा दलितों पर अत्याचार पश्चिम और दक्षिण भारत में अपने चरम पर थे जिन्होंने ब्राह्मणवाद विरोधी विद्रोह की अनिवार्यता सुनिश्चित कर दी थी । इस विद्रोह की एक बड़ी खूबी यह थी कि किसी न किसी रूप में आधुनिक पश्चिमी आदर्श इसके प्रेरणास्रोत थे और इससे भी बढ़कर ऊपरी हलचल के समानान्तर समाज की अन्दरूनी सतह पर भी एक प्रबल प्रवाह मौजूद था ।

इधर उत्तर भारत में इस दौर में पश्चिमी प्रभाव का इस्तेमाल राष्ट्रवाद के विकास के लिए तो जरूर हुआ मगर किसी ब्राह्मण-वाद विरोधी आन्दोलन के लिए यह नहीं हो सका यद्यपि सतह के नीचे ब्राह्मणवाद विरोधी गतिविधियाँ हमेशा चलती रहीं मगर अपवाद स्वरूप ही (जैसे आगरा के जाटवों का आन्दोलन) कहीं-कहीं इन्हें सचेत रूप से संगठित किया जा सका । हिन्दी साहित्य में दलित चेतना का आविर्भाव और उसका विशिष्ट स्वरूप इन्हीं जटिल और अन्तर्विरोधी स्थितियों की पृष्ठभूमि में संभव हुआ जिसका विवरण हम अगले अध्याय में प्रस्तुत करेंगे ।

अध्याय - 2

हिन्दी रचनाशीलता में दलित चेतना का विकास

(i) पूर्वपीठिका

पहले अध्याय में विभिन्न कारणों से हिन्दी भाषी प्रदेशों में दक्षिण अथवा पश्चिम भारत ,विशेष तौर पर महाराष्ट्र जैसे तीखे ब्राह्मणवाद विरोधी विद्रोह की अनुपस्थिति पर प्रकाश डाला गया है । इसी नाते हिन्दी में दलित चेतना की आँच धीमी रही और प्राय: इस मामले में उसे मराठी साहित्य को अपना पथ प्रदर्शक मानकर चलना पड़ता है । हिन्दी रचना शीलता में दलित चेतना की पूर्वपीठिका के रूप में मराठी साहित्य में दलित चेतना की महत्वपूर्ण भूमिका है ।

महाराष्ट्र में प्रबोधन और विद्रोह की बहुत लम्बी परम्परा है, जिसके आधारस्तम्भ महात्मा ज्योतिबा फुले थे । सच्चे अर्थों में खुद क्रिया शील रहकर ,खुद इन सबसे गुजरकर ही उन्होंने सामन्तवाद और गुलामी के विरोध में पहला उद्घोष किया । ब्राह्मणवादी धार्मिक सांस्कृतिक वर्चस्व के विरोध में उन्होंने आन्दोलन खड़ा किया । उन्होंने कर्मकांड की धज्जियाँ उड़ायी और उत्पीड़ित वर्ग के पक्ष में मजबूती के साथ खड़े हुए । उन

दिनों वैचारिक आदान-प्रदान के बहुत कम साधन उपलब्ध थे सो केवल अपने अनुभव और आंकलन के अनुसार उन्होंने इस दिशा में पहला कदम उठाया । यही कारण है कि फुले को दलित साहित्य की सृजनशील अगली पीढ़ी ने अपना प्रमुख विचारक माना । उनके विचारों को अपना मार्गदर्शक बनाकर इसने साहित्य में अपनी यात्रा आरम्भ की जबकि तत्कालीन मराठी साहित्य में कोई शक्तिशाली विचारधारा न थी ।

मराठी साहित्य सृष्टि में दलित साहित्य सृजन का आरम्भ एक बहुत महत्वपूर्ण और सार्थक घटना है । यह घटना भारतीय साहित्य में अपना ऐतिहासिक महत्व रखती है । जो समाज वाणी और कलम के सामर्थ्य से अनजान और वंचित था,उसे जब साहित्य के रूप में एक सामर्थ्यशाली हथियार मिला तो वह खुलकर बोलने लगा,लिखने लगा और उसे एकनई आत्मचेतना प्राप्त हुई ।

वस्तुत: यह एक सांस्कृतिक विस्फोट था । बहुसंख्यक समाज सदियों से संस्कृति से वंचित था । उसे एक फासले पर निरन्तर बनाए रखा गया था ।उसे गाँव की हद से बाहर रखा गया था । उन्हें पीने का पानी तक हासिल न था । कर्मकांडी हिन्दू संस्कृति ने उनपर अमानवीय जीवन लादा था । उनसे छुआछूत बरतते हुए ,मरे हुए जानवरों को फेंकने ,उनका चमड़ा

छीलने जैसे घिनौने काम उनसे कराए जाते थे । उनकी परछाईं से भूमि अपवित्र हो जाती थी, मन्दिरों में प्रवेश की उन्हें आज्ञा नहीं थी ।ऐसे दलित उत्पीड़ित जन समुदाय को डा० भीमराव अम्बेडकर ने "पढ़िए और संगठित होकर अन्याय का प्रतिकार कीजिए" का संदेश देकर सामाजिक परिवर्तन की राह सुझा दी ।

डा० अम्बेडकर स्वयं इस भीषण नृशंस अमानवीय अनुभवों से गुजरे थे, यहाँ की कर्मकांडी संस्कृति द्वारा किए जाने वाले भयावह अत्याचारों से वह भली-भाँति परिचित थे । यहाँ का कर्मकांड में धँसा रूढ़िवाद,असंख्य देवी-देवता और धर्म की निरंकुश सत्ता,मानवता विरोधी व्यवहार,विषमता और बदले की भावना से दूषित बर्ताव, निम्न जातियों के साथ गुलामों जैसा व्यवहार और सभी मंगलमय अवसरों पर उनको सामाजिक स्वीकृति से वंचित रखने वाले हिन्दू धर्म का पाशवी चेहरा वे देख चुके थे । इन परिस्थितियों में उनके जैसा विचारशील व्यक्ति विद्रोह की ही बात सोच सकता था । उन्होंने ब्राह्मणवाद से लड़ने का नारा देते हुए उद्घोष किया कि---"जाति-विहीन समाज की स्थापना किए बिना स्वराज्य का कोई महत्त्व नहीं है ।" उनकी इस घोषणा को पूरे विश्व में सुना गया ।

स्वाधीनता संग्राम के दौरान डा० अम्बेडकर के संघर्ष तथा

उससे भी पहले 19 वीं सदी में महात्मा फुले के प्रयासों का प्रभाव हिन्दी भाषी समाज की बौद्धिक चेतना पर व्यापक रूप से पड़ा और अपनी विशिष्ट शब्दावली और तेवर में उसने दलितों के प्रति अपने विचारों तथा भावनाओं की अभिव्यक्ति साहित्य में की । इसी अभिव्यक्ति को हम दलित चेतना के नाम से जानते हैं । हिन्दी साहित्य दलित चेतना की दृष्टि से काफी समृद्ध है । लगभग शुरूआत से ही इसमें दलित चेतना के उदाहरण मिलने लगते हैं । आगे चलकर प्रेमचन्द और निराला के साहित्य की मूल चेतना ही दलितों के प्रति सहानुभूति से प्रेरित तथा उनकी संघर्ष चेतना में अपनी सफलता समझने वाली हो गई । इस अध्याय में आगे हम सन् साठ से पूर्व के हिन्दी कथा साहित्य में दलित चेतना के विभिन्न आयामों का अध्ययन करेंगे ।

हिन्दी में वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मणवाद विरोधी दलित चेतना की शुरूआत प्राय: इसकी प्रारम्भिक अवस्था से ही दिखाई पड़ती है । " एक पण्डित जी वर्ण विवेक पर कुछ वक्तृता कर रहे थे, इतने में एक मसखरा बोल उठा —— पण्डित जी कुत्ते की क्या जाति है । हिन्दू या मुसलमान । पण्डित जी ने जवाब दिया —— कुत्ता तो हिन्दू मालूम होता है, क्योंकि यदि मुसलमान होता तो दूसरे कुत्ते को अपने साथ खिलाने में भौंकता?

1–बाल कृष्ण भट्ट – हिन्दी प्रदीप 1889, रामजी राय "समकालीन जनमत अगस्त 95 से उद्धृत.

उल्लेखनीय है कि यहाँ एक ब्राह्मण के माध्यम से ही दलितों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई है ।

आगे चलकर 1914 में "सरस्वती" में हीरा डोम की कविता प्रकाशित होती है जो भोजपुरी बोली में है । इसमें दलितों की निम्न सामाजिक स्थिति का द्रावक चित्रण किया गया है । एक दलित द्वारा लिखी गई इस कविता में भगवान को आक्रोश से "भगवनवा" कह कर पुकारा गया है । इस कविता का सार कुछ इस प्रकार है—"हम लोग कुँए के करीब नहीं जा सकते ,हम कीचड़ में से पानी निकाल-निकाल कर पीते हैं । जूते से पीट-पीट कर वे हमारे हाथ-पैर तोड़ देते हैं । हम लोगों को इतनी यातना क्यों उठानी पड़ती है ? जिस हाड़मांस का हमारा शरीर बना है,उसी का इन ब्राह्मणों का बना है । इन ठाकुरों का बना हुआ है तो क्या बात है कि ये पूजे जाते हैं और हमारी पूजा जूतों से होती है..?[1]

1-ओम प्रकाश बाल्मीकि- समकालीन जनमत 1.15 सित0 194 पृ0- 26

(ii) प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना

हिन्दी साहित्य में वास्तविक अर्थों में दलित चेतना का आगमन प्रेमचन्द के साथ होता है । उन्होंने किसानों को अपने लेखन का आधार बनाते हुए दलित मुक्ति को किसानों की मुक्ति के केन्द्रीय प्रश्न के रूप में देखा । स्वाधीनता संग्राम और किसान आन्दोलन के साथ जुड़कर दलित चेतना ने हिन्दी साहित्य में एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में अपना केन्द्रीय स्थान सुनिश्चित किया । इसी परिघटना के परिणामस्वरूप हिन्दी में दलित चेतना के अन्तर्गत आक्रोश का ताप मद्धम रहा और सुधार समन्वय और सहिष्णुता की आवाज प्रबल रही हालांकि इसके महत्वपूर्ण अपवाद भी मिलते हैं । प्रेमचन्द और निराला में हम इनकी बानगी देखेंगे ।

प्रेमचन्द की सामाजिक दृष्टि की सर्वप्रमुख विशेषता है सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करने वाले आर्थिक कारकों की अचूक पहचान । "सवा सेर गेहूँ" नामक कहानी में वे कहते हैं कि--"सात साल गुजर गए । विप्र जी विप्र से महाजन हुए, शंकर किसान से मजूर हो गया ।"[1] अंग्रेजी राज में जो विकृत पूँजीवाद आ रहा था वह संयुक्त परिवारों को तोड़ रहा था, पहले से ही छोटी जोतें, परिवारों में बँटवारे के परिणाम स्वरूप अब खत्म होने के

1- प्रेमचन्द - प्रतिनिधि कहानियाँ पृ0-56

कगार पर थीं। मजूर से किसान बनने की यही प्रक्रिया थी । उधर विप्र पुरोहितगण धनी हो रहे थे । किसानों की गरीबी उन्हे कर्ज लेने को बाध्य करती थी -- ब्राह्मण देवता इस मौके को भला कैसे हाथ से जाने देते । उन्होंने ऋण दिए और मनमाने ढंग से वसूल किया । गरीब दलित किसानों की पीढ़ियों को गुलाम बनाया गया । "सवा सेर गेहूँ"इसी की कथा है । शंकर एक गरीब किसान है। भाई से बँटवारे के पहले विप्र जी की खलिहानी किया करता था । एक बार जरूरत पड़ने पर उनसे सवा सेर गेहूँ लिया । बाद में बिना कहे-सुने ड्योढ़ी खलिहानी दे दी । सोचा हिसाब-किताब साफ हो गया । मगर इन ब्राह्मण देवता में पौरोहित्य की सम्पूर्ण धूर्तता के साथ महाजन मौजूद था । सात साल बाद,जब वह बँटवारे के बाद मजूर हो गया था,ब्राह्मण देवता ने उसे सूचना दी कि वह सवा सेर गेहूँ अब साढ़े पाँच मन हो चुका है। साथ ही धमकी भी --"यहाँ न दोगे,भगवान के घर तो दोगे ।"[1]

धर्म, समाज और अर्थनीति तीनों मिलकर जिस दुष्चक्र का निर्माण करते हैं, उससे निकलना शंकर के लिए असंभव था । उसने कर्ज चुकाने की बहुत कोशिश की मगर सफल नहीं हो सका । परिणाम स्वरूप

1-प्रेमचन्द - प्रतिनिधि कहानियाँ पृ0- 58

कर्ज सूद के रूप में आजीवन ब्राह्मण देवता के यहाँ मजूरी करता रहा और उसके मरने के बाद उसके बेटे ने उसकी जगह ली ।

"ठाकुर का कुआँ" हिन्दी साहित्य में दलित चेतना की अभिव्यक्ति की विशिष्ट कहानी है । गाँव में दलितों के लिए अलग कुआँ है जिसमें कोई जानवर मर जाता है और पानी पीने योग्य नहीं रह जाता । गंगी अपने बीमार पति जोखू के लिए साफ पानी लाने का उद्योग करते हुए कहती है — "ठाकुर और साहू के दो कुएँ तो हैं । क्या एक लोटा पानी न भरने देंगे ।[1]

गंगू जवाब देते हुए कहता है —"हाथ - पाँव तुड़वा आएगी और कुछ न होगा । बैठ चुपके से । ब्राह्मन देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहू जी एक के पाँच लेंगे । गरीबों का दर्द कौन समझता है । हम तो मर भी जाते हैं तो कोई दुआर पर झाँकने नहीं आता कंधा देना तो बड़ी बात है । ऐसे लोग कुएँ से पानी भरने देंगे ।"[2]

1-प्रेमचन्द - प्रतिनिधि कहानियाँ - पृ0- 94

2-प्रेमचन्द - प्रतिनिधि कहानियाँ - पृ0- 94

इस परिस्थिति का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं—

"इस कुएँ का पानी सारा गाँव पीता है । किसी के लिए रोक नहीं, सिर्फ ये बदनसीब नहीं भर सकते ।"

गंगी का विद्रोही दिल रिवाजों, पाबंदियों और मजबूरियों पर चोटें करने लगा— "हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊँच हैं ? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं ? यहाँ तो जितने हैं, एक से एक छँटे हैं? चोरी ये करें, जाल - फरेब ये करें, झूठे मुकदमें ये करें ।"[1]

प्रेमचन्द इस मौके पर अपनी सामाजिक दृष्टि की स्पष्टता का प्रमाण देते हुए ठाकुर के परिवार की महिलाओं की पीड़ा को उनके वार्तालाप के बहाने चित्रित करते हैं । स्पष्ट है कि दलितों और महिलाओं को सताने वाली एक ही ब्राह्मणवादी-पुरुषवादी मानसिकता है मगर एक अस्पृश्यता का अभिशाप दलितों की पीड़ा को असहनीय बना देता है ।

अन्ततः गंगी ठाकुर के कुएँ से छिपकर पानी निकालने की कोशिश में लगभग कामयाब होने को है कि ठाकुर का दरवाजा खुलने की आहट मिलती है और उसके हाथ से घड़ा और रस्सी छूट कर पानी में गिर जाते हैं । ठाकुर के डर से भागती हुई जब वह घर पहुँचती है तो देखती है

1-प्रेमचन्द - प्रतिनिधि कहानियाँ पृ0- 95

कि जोखू वही दुर्गंधयुक्त पानी पी रहा है । कुछ आधुनिक विचारकों का मत है कि प्रेमचन्द अपने दलित पात्रों की पीड़ा और उनकी अमानवीय स्थिति का चित्रण तो कुशलता पूर्वक करते हैं मगर उनकी संघर्ष चेतना का साक्ष्य नहीं प्रस्तुत कर पाते ।[1] जबकि कुछ अन्य लोग इसे प्रेमचन्द कालीन समाज की वास्तविकता के अनुरूप मानते हैं ।[2]

"सद्गति" नाम की कहानी में दुखी चमार अपनी बेटी की शादी की "साइत-सगुन" विचरवाने के लिए पं0 घासीराम को अपने घर बुलाने जाता है । जाने से पहले वह और उसकी पत्नी झुरिया मिलकर घर को साफ करके गोबर से लीपते हैं फिर ब्राह्मण देवता को बैठने के लिए उपयुक्त आसन की समस्या पर विचार करते हैं । अपने पास जो खाट है, उस पर ये बैठेंगे नहीं और दूसरा कोई उन्हें अपनी खाट क्यों देने लगा । दुखी कहता है — हमारे उपले, सैंठे, भूसा, लकड़ी थोड़े ही हैं जो चाहे उठा ले जाए ।[3] अन्त में तय होता है कि महुए के पत्ते तोड़कर एक पत्तल बना लिया जाएगा जिस पर वे बैठ सकें । साथ ही उनके सीधे की

- -

1-ओमप्रकाश बाल्मीकि- समकालीन जनमत 1-15 सित0- 1914

2-रामजी राय - समकालीन जनमत 1-15 अप्रैल 1994

3-प्रेमचन्द -प्रतिनिधि कहानियाँ - पृ0- 109

व्यवस्था भी सीधे दुकान से किसी अन्य जाति के व्यक्ति के द्वारा की जाती है ताकि उनका "नेम-धरम" कायम रह सके ।

नजराने में घास का गट्ठर लेकर वह पहुँचता है तो पण्डित जी सुबह की पूजा में लीन थे । पूजा-पाठ से निवृत्त होकर भंग छानकर जब वे बाहर निकलते हैं तो दुखी अपने आने की वजह बताते हुए उनसे शीघ्र चलने की गुजारिश करता है और पूछता है कि इस घास को कहाँ रख दूँ । पण्डित जी जवाब देते है--"इस गाय के सामने डाल दे और जरा झाड़ू लेकर द्वार तो साफ कर दे । यहबैठक भी कई दिनों से नही लीपी गई । उसे भी गोबर से लीप दे । तब तक मैं भोजन कर लूँ । फिर जरा आराम कर के चलूँगा । हाँ यह लकडी भी चीरदेना । खलिहान में चार खाँची भूसा पड़ा है । उसे भी उठा लाना और भुसौली में रख देना ।"[1]

दुखी को घास छीलने का तो अभ्यास था मगर लकड़ी चीरना कठिन था । वह भी ऐसी गाँठ को फाड़ना जिस पर पूरी ताकत से कुल्हाडी मारने पर भी निशान तक नहीं पड़ता था । सुबह का भूखा-प्यासा वह तीसरे पहर तक उस गाँठ से जूझता है और अन्ततः दम तोड़ देता है । जब उसकी लाश को हटाने के लिए कोई चमार नहीं तैयार होता है तो अगले

1- प्रेमचन्द - प्रतिनिधि कहानियाँ - पृ0-113

दिन सुबह मुँह अँधेरे पण्डित जी स्वयं ही एक रस्सी के फंदे में उसके पैरों को जकड़ कर घसीटते हुए दूर ले जाकर छोड़ देते हैं जहाँ उसे गीदड़ और गिद्ध ,कुत्ते और कौए नोचते हैं । अन्त में प्रेमचन्द कहते हैंकि -"यही जीवन पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था ।"[1]

इस विषय पर लिखी अपनी दूसरी कहानियोंकी तरह इस कहानी में भी प्रेमचन्द ब्राह्मणवादी पाखण्डों की जमकर बखिया उधेड़ते हैं और साथ ही उत्पीड़ित समुदाय के ऊपर छाए उसके प्रभाव की त्रासदी का चित्रण करते हैं । मरते-मरते तक दुखी के मन में पण्डित जी के धार्मिक तेज और उनके द्वारा निकाले गए साइत की महत्ता पर अडिग विश्वास जमा रहता है । तम्बाकू के लिए आग माँगने पर फेंक कर दी गई आग जब उसके माथे को जला देती है तो उसके लगता है कि यह एक ब्राह्मण के घर में उसके घुसने और उसे अपवित्र करने का दण्ड उसे मिला है । प्रेमचन्द अपने उत्पीड़ित पात्रों को कभी अकेला नहीं छोड़ते । दुखी की मदद को एक गोंड़ आता है जो न केवल उसे तम्बाकू पिलाता है और उसके लिए लकड़ी चीरने की कोशिश करता है बल्कि उसे उसके हक की याद भी दिलाता है-

---

1-प्रेमचन्द - प्रतिनिधि कहानियाँ - पृ0- 116

"हाकिम भी बेगार लेता है तो थोडी बहुत मजूरी देता है । यह उनसे भी बढ़ गए ,उस पर धर्मात्मा बनते हैं ।"[1] मगर सब बेकार ।

"कफन" नामकी कहानी न सिर्फ दलित चेतना की विशिष्ट अभिव्यक्ति है बल्कि प्रेमचन्द के सम्पूर्ण कथा लेखन का एक उत्कर्ष भी है । इसमें मानवीय स्थितियों से च्युत दो दलित पात्रों - घीसू और माधव - जो बाप बेटे हैं का चित्रण जबरदस्त यथार्थवादी शैली में किया गया है । ये दोनों निपट-नाकारा और सभी मानवीय वृत्तियों से दूर भूख-भय आदि से संचालित - पशुवत जीवन बिताते थे । कहानी की शुरूआत में ये दोनों झोंपड़े के सामने किसी के खेत मे से तोड़ लाए गए आलू भून कर खा रहे हैं जबकि अंदर माधव की पत्नी बुधिया प्रसव वेदना से तड़प रही है । एक साल पहले जबसे वह इस घर में आई है किसी तरह हाड़ तोड़कर वह इन निठल्लों के पेट का दोजख भर रही है मगर आज जब वह अन्तिम साँसे गिन रही है तो माधव चिन्तित है कि कहीं घीसू आलुओं का बड़ा हिस्सा चट कर जाए । खा पीकर दोनों वहीं अजगर की तरह पड़ रहते हैं और सुबह उठकर पाते हैं कि बुधिया मर चुकी है । उसके बाद उसके अन्तिम संस्कार

1- प्रेमचन्द - प्रतिनिधि कहानियाँ - पृ0- 113

के लिए लकड़ी वगैरह जुटाकर चंदा करके पाँच रूपया कफन के लिए पाते हैं और उसे लेकर बाजार आते हैं । कफन तो नहीं खरीदते मगर उस पैसे से शराब और पूरी का भोजन जी भरकर करते हैं और जीवन में पहली बार इस तृप्ति का अनुभव करने के बाद बची हुई पूरियाँ एक भिखारी को देकर देने के सुख का भी अनुभव करते है ।

ओम प्रकाश बाल्मीकि जैसे दलित साहित्यकारों ने "कफन" को दलित विरोधी कहानी माना है । उनके अनुसार -"प्रेमचन्द ने दलित चेतना की कई महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं । "सद्‌गति", "ठाकुर का कुँआ" , "दूध का दाम" आदि । लेकिन अन्तिम दौर की कहानी "कफन"तक आते-आते वे गाँधीवादी आदर्शों,सामन्ती मूल्यों ,वर्ण व्यवस्था के पक्षधर दिखाई पड़ते हैं । एक अन्तर्द्वन्द्व है उनकी रचनाओं में,एक ओर दलितों से सहानुभूति, दूसरी ओर वर्ण व्यवस्था में विश्वास ।"[1]

"कफन" कहानी पर समग्रता में विचार करते हुए ऐसा प्रतीत नहीं होता । घीसू और माधव के अमानवीकरण की प्रक्रिया की सामाजिक पृष्ठभूमि का उद्घाटन करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं — "जिस समाज

1-ओम प्रकाश बाल्मीकि - समकालीन जनमत 1-15 सित0 '94 पृ0- 27

में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी (घीसू माधव की) हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी । हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था, जो किसानों के विचार शून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मंडली में जा मिला था ।"[1]

स्पष्ट है कि प्रेमचन्द अपने पात्रों को भरपूर समर्थन देते हैं और उस सामाजिक व्यवस्था को कटघरे में खड़ा करते हैं जो उनके अमानवीकरण के लिए जिम्मेदार है । अनन्त काल के उत्पीड़न और तकलीफ ने इन पात्रों की सामान्य मानवीय वृत्तियों का अपहरण कर लिया है । मजबूरी में ही सही, परलोक पर लोक की बढ़त स्थापित होती है और कफन के पैसे से जिंदगी में पहली बार छक्कर खाने के बाद आश्चर्यजनक रूप रूप से वे एक उदार मानवीय वृत्ति का परिचय देते हुए भूखे भिखारी को बची हुई पूरियाँ देते हैं और उसका आनन्द भी प्राप्त करते हैं । संदेश स्पष्ट है

1- प्रेमचन्द - प्रतिनिध कहानियाँ - पृ0- 133

कि अमानवीय स्थितियाँ मानवीय भावना और स्मृति का विनाश कर सकती हैं । इसी लिहाज से कफन दलित चेतना की अनूठी कहानी है ।

"गोदान" में प्रेमचन्द अपने लेखकीय जीवन के उत्कर्ष पर हैं । यह उपन्यास हिन्दी कथा साहित्य में दलित चेतना का एक मार्मिक दस्तावेज है । इसमें प्रेमचन्द दलितों के अन्दर आ रही चेतना के दो "मॉडलों" को लेकर उपस्थित हुए हैं । एक का प्रतिनिधि होरी है जो ब्राह्मणवादी परम्परा में इस हद तक रचा बसा हुआ है कि हर मौके पर उसके सामने धर्म अधर्म का प्रश्न उठ खड़ा होता है और धर्म की खून चूसने वाले वर्गों से हटकर कोई व्याख्या वह नहीं जानता इसलिए "सद्गति" कहानी के दुखी चमार की तरह इस शिंकजे में फंस कर जान देना उसकी एकमात्र नियति है । दूसरी तरफ धनिया, गोबर और हरखू जैसे पात्र हैं जो इस व्यवस्था पर चोट करने के लिए हमेशा कसमसाते रहते हैं । यद्यपि उनकी विद्रोह चेतना अनुकूल परिस्थितियों के अभाव मे प्रायः निष्फल हो जाती है या गोबर की तरह व्यक्तित्व की टूटन में ही अभिव्यक्त होती है मगर दी हुई स्थितियों में ये प्रयास प्रशंसनीय हैं ।

"गोदान" के पहले ही पेज पर होरी द्वारा दिया गया वक्तव्य— "जब दूसरे के पाँवों-तले अपनी गर्दन दबी हुई है तो उन

पाँवों को सहलाने में ही कुशल है'[1] उसके व्यक्तित्व का सूत्र वाक्य है । वह अपनी पूरी जिंदगी उसी के अनुकूल आचरण करते हुए काट देता है और अन्ततः महाकाव्यात्मक त्रासदी को प्राप्त होता है ।

उपन्यास के घटनाचक्र में होरी के दोनों बैल भोला खोल ले जाता है । खेत परती पड़े है । गाँव के निमर्म महाजन और धर्म के ठेकेदार पं० दातादीन इस मौके का लाभ उठाते हुए बीज और बैल देकर उपज में आधी हिस्सेदारी करने का प्रस्ताव रखते हैं । होरी हमेशा की तरह पहले सोच में पड़ता है फिर प्रस्तावको मान लेता है ——

"होरी सोच में पड़ गया । चौमासे भर इन खेतों में खाद डाली, जोता और आज केवल बोआई के लिए आधी फसल देनी पड़ रही है । उस पर एहसान कैसा जता रहे हैं । लेकिन इससे तो अच्छा यही है कि खेत परती पड़ जाय । . . . और कुछ न मिलेगा लगान तो निकल ही आएगी । नही अबकी बेबाकी न हुई, तो बेदखली आई धरी है । [2]

1- प्रेमचन्द - गोदान ,इलाहाबाद पृ0- ।

2- प्रेमचन्द - गोदान ,इलाहाबाद पृ0- 142-143

घर में खाने को कुछ भी नही है,यह जानने पर पं0 दातादीन कहते हैं - "अरे तुम्हारे घर चूल्हा नही जला और तुमने मुझसे कहा भी नही ... हम सब एक ही तो हैं । तुम सूद्र हुए तो क्या हम बाम्हन हुए तो क्या, है तो सब एक ही घर के ।"[1]

जात-बिरादरी ,समाज और पंचायत के नाम पर होरी और धनिया में खूब जिरह होती है हालाँकि अन्त में होरी अपने मन वाली कर ही लेता है । ऐसे ही एक मौके पर पंचायत द्वारा हुक्का - पानी खोलने के लिए भारी दण्ड लगाने पर दोनों की प्रतिक्रिया देखने योग्य है ।

"धनिया दाँत कटकटाकर बोली - "मैं एक दाना अनाज दूँगी, न कौडी डाँड़ । जिसमें बूता हो, चलकर मुझसे ले । अच्छी दिल्लगी है । सोचा होगा ,डाँड़ के बहाने इसकी सब जैजात ले लो और नजराना लेकर दूसरों को दे दो । बाग-बगीचा बेचकर मजे से तर माल उडाओ । धनिया के जीते जी यह नहीं होने का, और तुम्हारी लालसा तुम्हारे मन में ही रहेगी । हमें नहीं रहना है बिरादरी में । बिरादरी में रहकर हमारी मुकुती न हो जाएगी । अब भी अपने पसीने की कमाई खाते हैं ,तब भी अपने

1- प्रेमचन्द , गोदान, इलाहाबाद पृ0- 142-143

पसीने की कमाई खायेंगे ।"[1]

होरी ने उसके सामने हाथ जोड़कर कहा -"धनिया तेरे पैरों पड़ता हूँ ,चुप रह । हम सब बिरादरी के चाकर हैं,उसके बाहर नहीं जा सकते । वह जो डाँड़ लगाती है,उसे सिर झुकाकर मंजूर कर । नक्कू बनकर जीने से तो गले में फाँसी लगा लेना अच्छा है । आज मर जाँय तो बिरादरी ही तो इस मिट्टी को पार लगाएगी ? बिरादरी ही तारेगी तो तरेंगे ।"[1]

होरी और धनिया का बेटा गोबर प्रारम्भ से ही इस रीत-नीत से असंतुष्ट रहता था । शहर से लौटकर उसने पं० दाता-दीन को जवाब देते हुए कहा —

"तुम्हारे घर में किस बात की कमी है महाराज, जिस जजमान के द्वार पर जाकर खड़े हो जाओ ,कुछ न कुछ मार ही लाओगे । जनम में लो, मरन में लो,सादी मे लो,गमी में लो,खेती करते हो ,लेन देने करते हो, दलाली करते हो,किसी से कुछ भूल चूक हो जाय,

---

1- प्रेमचन्द, गोदान,इलाहाबाद ,पृ०- 100

तो डाँड़ लगाकर उसका घर लूट लेते हो । इतनी कमाई से पेट नहीं भरता ? क्या करोगे बहुत सा धन बटोरकर कि साथ ले जाने की कोई जुगत निकाल ली है ?"[1]

यही गोबर जब शहर में पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के शिकंजे में फंस जाता है तो उसका सारा आत्मविश्वास गायब हो जाता है और वह अंदर ही अंदर टूट जाता है । प्रेमचन्द इस प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहते हैं - "यहाँ देह की उतनी मेहनत न होने पर भी जैसे उस कोलाहल,उस गति और तूफानी शोर का उस पर बोझ - सा लदा रहता था । यह शंका भी बनी रहती थी कि न जाने कब डाँट पड़ जाय । सभी श्रमिकों की यही दशा थी । सभी ताड़ी या शराब में अपनी दैहिक थकान और मानसिक अवसाद को डुबाया करते थे । गोबर को भी शराब का चस्का पड़ा । घर आता तो नशे में चूर और पहर रात गये । और आकर कोई न कोई बहाना खोजकर झुनिया को गालियाँ देता घर से निकालने लगता और कभी कभी पीट भी देता ।"[2]

1-प्रेमचन्द ,गोदान, इलाहाबाद पृ0- 169

2-प्रेमचन्द ,गोदान,पृ0- 222

"गोदान" में दलित चेतना का सबसे विकसित प्रतिनिधि हरखू नाम का पात्र है । इसकी बेटी सिलिया से पं० दाता-दीन के पुत्र मातादीन ने संबंध बना लिया है जिससे वह गर्भवती हो गई है । अब मातादीन उससे पीछा छुड़ाना चाहता है । एक दिन खलिहान में हरखू अपने सजातीय चमारों के दल के साथ आ धमकता है । दृष्टव्य है-

"झिंगुरी सिंह ने सिलिया के बाप से पूछा--"क्या बात है चौधरी ,किस बात का झगड़ा है ?"

सिलिया का बाप हरखू साठ साल का बूढ़ा था , काला, दुबला, सूखी मिर्च की तरह पिचका हुआ, पर उतना ही तीक्ष्ण । बोला-"झगड़ा कुछ नहीं है ठाकुर, हम आज या तो मातादीन को चमार बना के छोड़ेंगे या उनका और अपना रक्त एक कर देंगे । सिलिया कन्या जात है ,किसी न किसी के घर जायेगी ही । इस पर हमें कुछ नहीं कहना है, मगर उसे जो कोई भी रखे,हमारा होकर रहे । तुम हमें ब्राह्मन नहीं बना सकते,मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते है । हमें ब्राह्मन बना दो , हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है । जब हम समरथ नहीं हैं तो फिर तुम भी चमार बनो । हमारे साथ खाओ-पियो,हमारे साथ उठो-बैठो हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धरम हमें दो ।....

हरखू ने अपने साथियों को ललकारा —सुन ली इन लोगों की बात कि नही । अब क्या खड़े मुँह देखते हो ?

इतना सुनना था कि दो चमारों ने लपक कर मातादीन के हाथ पकड़ लिए, तीसरे ने झपटकर उसका जनेऊ तोड़ डाला और इसके पहले कि दातादीन और झिंगुरी सिंह अपनी-अपनी लाठी सँभाल सकें, दो चमारों ने मातादीन के मुँह में एक बड़ी सी हड्डी का टुकडा डाल दिया । मातादीन ने दाँत जकड़ लिये, फिर भी वह घिनौनी वस्तु उनके ओठों में तो लग ही गई । उन्हे मतली हुई और मुँह आप से आप खुल गया और हड्डी कंठ तक जा पहुँची । इतने में खलिहान के सा आदमी जमा हो गए, पर आश्चर्य यह कि कोई न धर्म के लुटेरों से मुजाहिम न हुआ ।"[1]

प्रेमचन्द ने दलितों में आई चेतना की अचूक पहचान का प्रदर्शन किया । इस सदी के चौथे दशक में किया गया उपरोक्त चित्रण इनमें सर्वाधिक तीव्र तथा परिवर्तन कामी है । इस दृष्टि से इस अन्तिम दशक के कथा साहित्य के लिए भी यह दृष्टि स्पृहणीय है । प्रेमचन्द हिन्दी कथा

1-प्रेमचन्द - गोदान, इलाहाबाद पृ0-200-201

साहित्य में सामाजिक चेतना के पितृपुरुष हैं और अपनी ख्याति के अनुकूल ही दलित चेतना के क्षेत्र में भी उनकी अनेक उपलब्धियाँ ऐसी हैं जिनपर आज का साहित्यकार भी गर्व कर सकता है ।

(iii) निराला साहित्य में दलित चेतना

प्रेमचन्द से हिन्दी कथा साहित्य में दलित चेतना का जो अध्याय शुरू हुआ वह निराला के साहित्य में और ऊंचाइयों पर पहुँचा। प्रेमचन्द के दलित पात्र अगर ब्राह्मणवादी जंजीरों में जकड़े हुए प्रायः अपने दुर्भाग्य को रो रहे थे तो निराला के पात्रों ने इन जंजीरों को तोड़कर फेंक दिया और विद्रोह का बिगुल बजाया। निराला का साहित्य दलित चेतना का ऐसा दस्तावेज है, जो समय और समाज के तेज बदलावों के चलते दर्ज नहीं किया जा सका मगर दलित चेतना की बात करते समय निराला के कथा साहित्य की अवहेलना करना उनके लिए भी असंभव है जो गैर दलितों के अंदर दलित चेतना की संभावना से ही इंकार करते हैं। चतुरी चमार का "उपानह - साहित्य", महादेव चमार का "रद्दा", दलित नारी चमेली की औगी और कुल्लीभाट की "पाठशाला" निराला द्वारा प्रयुक्त ऐसे प्रतीक हैं जो दलित चेतना को सही मायने में रूपायित करते हैं।

निराला साहित्य में रेखांकित दलित चेतना बदलते युग की सूक्ष्म पहचान थी। उन्होने समय-चक्र की व्याख्या करते हुए लिखा था - "भारतवर्ष की तमाम सामाजिक शक्तियों का यह एकीकरण काल शूद्रों और अन्त्यजों के उठने का प्रभात काल है। भारतवर्ष का यह युग

शूद्र शक्ति के उत्थान का युग है । देश का पुनरुद्धार उन्हीं के जागरण की प्रतीक्षा कर रहा है ।"[1] निराला का विश्वास था कि ,"शूद्र शक्तियों से यथार्थ भारतीयता की किरणें फूटेगी ।"[2] वे अपने इसी विश्वास को चतुरी, चमेली,महादेव और कुल्ली में आकार दे रहे थे । निराला - साहित्य के ये सभी पात्र अपने अधिकारों के दमन को चुपचाप सहने के बजाय ब्राह्मणवादी कर्मकांडी समाज के सामने खड़े होकर अपनी मुक्ति की लड़ाई लड रहे थे ।

20 से 40 तक के दशक में अकेले निराला ऐसे साहित्यकार थे,जिन्होंने अपने दलित पात्रों को किसी भी मोर्चे पर नाकाम संघर्ष नहीं कराया । इनके दलित पात्र पहले तैयारी करते हैं,हथियारों से लैस होते हैं और फिर निर्णायक युद्ध करते हैं । दलित मुक्ति के पहले चरण में कुल्ली एक ऐसी पाठशाला खोलता है जहाँ दलित लड़कों को आत्म - प्रत्यभिज्ञ की शिक्षा दी जाती है । इस स्कूल मे निराला खुद गए जहाँ उन्होने देखा कि - "कुल्ली के कुटीनुमा बंगले के सामने टाट बिछा है । उस पर अछूत लड़के श्रद्धा की मूर्ति बने बैठे हैं । आँखों से निर्मल रश्मि निकल रही है ।"[3] कुल्ली के

1-निराला -'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति'

2-निराला - सुधा, जन0 1930 - "हिन्दू समाज"

3-निराला - कुल्लीभाट - रचनावली भाग चार पृ0-.63

साथ खड़े होकर उन्होने दलित - समाज के भावी कर्णधारों को उनके सामाजिक यथार्थ की पहचान कराई । निराला कहते हैं - "ये पुश्त दर पुश्त से सम्मान देकर नत-मस्तक ही संसार से चले गये है । संसार की सभ्यता के इतिहास में इनका स्थान नही। ये नहीं कह सकते ,हमारे पूर्वज कश्यप.भारद्वाज,कपिल,कणाद थे, रामायण ,महाभारत इनकी कृतियाँ हैं, अर्थशास्त्र, कामसूत्र इन्होने लिखे हैं, अशोक,विक्रमादित्य,हर्षवर्धन,पृथ्वीराज इनके वंश के है । फिर भी ये थे, और हैं ।"[1]

देखा जा सकता है कि यह वेद,पुराण ,दर्शन-साहित्य अर्थशास्त्र,सौन्दर्यशास्त्र और इतिहास की नई चेतना थी जिसको शास्त्रवादियों ने दलितों से छीनकर अपने गर्हित बड़प्पन के लिए सुरक्षित कर लिया था । इस तरह का पहला स्कूल कुल्ली ने चलाया था जहाँ रूढ़ियों को तोड़कर यथार्थ को समझने और दलित तथ्यों को सही-सही मूल्यांकित करने की शुरूआत की गई थी ।

सर्वविदित है कि निराला का युग गाँधी-नेहरू युग था जिसमें सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर नए-नए आन्दोलन किए जा रहे थे,परन्तु दलितों के उत्थान के अवसर बहुत सीमित थे । इसे लेकर निराला

1- निराला - कुल्लीभाट - रचनावली भाग चार पृ0- 63

ने चिंता जताई थी - "कितना अधम बनाया है मेरे समाज ने उन्हें । ब्राह्मण ,ठाकुर,बनिया कुछ समझने के लिए तैयार नहीं । और हिन्दू, हिन्दू हैं बुजदिल,खासतौर से ब्राह्मण, ठाकुर ।"[1]

काल - सापेक्ष यथार्थ को पहचानने के लिए कुल्ली-स्कूल का यह उद्बोधन केवल निराला ही सुन सके थे । वे इसे भारतीय दलित समाज का क्रियात्मक दर्शन मानते थे । उनका विचार था कि दलितों के आत्मबोध के बिना मनुवादी व्यवस्था से जकड़े समाज में परिवर्तन संभव नहीं है । इसलिए उन्होंने मनुस्मृति की जकड़बंदी पर प्रहार करते हुए लिखा; "मनुस्मृति को रटकर रख देने से अथवा त्रिकाल संध्या की विधियों का बाकायदा निर्वाह करने से, केवल कुछ हं, लं,वं के द्वारा निरर्थक जीवन पार कर देना होगा । . . . . . अगर ब्राह्मणों ,क्षत्रियों और वैश्यों का सामाजिक बहिष्कार किया गया,तो अवश्य ही समाज में एक नया और जोरदार आन्दोलन पैदा होगा ।"[2] स्पष्ट है कि निराला और कुल्ली अछूत बच्चों को वही शिक्षा दे रहे थे जो सामाजिकपरिवर्तन के लिए जरूरी थी । यही कारण था कि डॉक्टर श्रीमती मुखोपाध्याय,मवेशियों के एक सवर्ण डॉक्टर और एक उच्च मुसलमान सब कुल्ली से घृणा करते थे

1- निराला -कुल्लीभाट -रचनावली भाग चार पृ0- 64

2- निराला - रचनावली भाग - 6 पृ0- 304

क्योंकि ,"कुल्ली अछूत लड़कों को पढ़ाता था और उनका एक दल संगठित कर रहा था ।"[1]

निराला कुल्ली के स्कूल में दलित लडकों को सामाजिक राजनीतिक अधिकारों की वास्तविकता का बोध करा रहे थे । दलित-मोर्चों को अपराजित बनाने की यह पहली तैयारी थी । कुल्ली-स्कूल दलित यथार्थ से अधिक दलित चेतना का प्रतीक था । दलितों के संगठित दल को देखकर ऊँची जाति के प्रतिनिधियों का भयभीत होना स्वाभाविक ही था ।

निराला दलित वर्ग के यथार्थ चित्रण मात्र को नाकाफी समझते थे । वे अपने सृजन के द्वारा संघर्षशील दलित चेतना की तलाश कर रहे थे । उनकी "चतुरी चमार" कहानी एक ऐसा ट्रेनिंग स्कूल थी, जहाँ दलित - मुक्ति के लिए हथियार-बंद लड़ाई की दीक्षा दी जा रही थी । प्रेमचन्द और निराला को छोड़कर द्विवेदी युग तथा उसके बाद का भी सारा साहित्य या पत्रिकाएँ दलितों के सवाल पर खामोश थीं । सरस्वती में पटना के हीरा डोम की भोजपुरी कविता "अछूत की शिकायत"[2] छपी तो डा० राम विलास शर्मा समेत बहुतों को उसमें "अछूतों के प्रतिरोध का स्वर"[3] सुनाई पड़ा जो हिन्दी कविता में अभी दूसरी जगह व्यक्त नहीं हुआ था ।

1-निराला-रचनावली भाग-4 पृष्ठ- 65

2-'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' पृ०- 358, ले० रामविलास शर्मा

3-रामविलास शर्मा, उपरोक्त पृ०- 358

लेकिन गौर से देखने पर ज्ञात होगा कि हीरा डोम की कविता में दलितों का निष्क्रिय यथार्थ यानी छुआछूत के प्रति शिकायत दर्ज हुई थी । कविता में - "हाय राम! धरम न छोड़त बनत बाजे, बेधरम होके कैसे मुँहवा देखाइबि" द्वारा रूढ़िवादियों को खुश रखने की ही कोशिश की गई थी । सरस्वती, प्रभा, मनोरमा, माधुरी, सुधा, मर्यादा, समन्वय आदि दर्जनों पत्रिकाओं में चतुरी चमार जैसे पात्रों की गुंजाइश नहीं थी क्योंकि वे सामाजिक स्तर पर उस अग्रगामी चेतना से जुड़ने में असफल रही थी जिससे निराला न केवल जुड़े हुए थे बल्कि जिसे वे अपनी लेखनी के द्वारा संवर्धित भी कर रहे थे ।

"चतुरी चमार" में निराला ने "उपानह-साहित्य" पद का प्रयोग दलितों के हथियारों के रूप में किया था । उनके, लिए उपानह साहित्य "ज्ञान का दूसरा छोर था, जहाँ आँखें मूँदकर, समय की पहचान किए बिना नहीं पहुँचा जा सकता था ।"[1] निराला ने चतुरी को व्यक्ति नहीं दलित वर्ग के रूप में विकसिल किया था । ऐसा दलित वर्ग जो जमींदारों और ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरुद्ध अपना उपानह साहित्य

1- निराला - सुधा, दिस0 1932

लेकर नये तेवर के साथ उठ खड़ा हुआ था । चतुरी के जुझारू संकल्प को ही लक्ष्य कर निराला ने लिखा था कि मेरी इच्छा होती है चतुरी के लिए 'गौरवे बहुवचनम्' लिखूं । निराला जानते थे कि "चतुरी ~~चतुर्वेदी आदि~~ को से संत साहित्य का अधिक मर्मज्ञ था । जिन निर्गुण पदों को बड़े-बड़े विद्वान नहीं समझते थे, चतुरी उनके मर्मस्थल तक पहुँच जाता था ।" उसने निराला से कहा था ,"मै कबीर पंथी हूँ न काका, जहाँ गिरह लगती है, साहब आप खोल देते हैं ।"[1]

निराला ने "चतुरी चमार" मे अपने मकान को "हाउस आफ कॉमन" यानी "साधारण जनों का अड्डा" लिखा । यहाँ लोध,पासी,धोबी और चमार नियमित अड्डा लगाते थे और ब्रह्मभोज चलाते रहते थे । ब्रह्मभोज में निहित व्यंग्य की आवाज दूर-दूर तक फैलती है । देखा जा सकता है कि "कुल्ली-स्कूल" बाल पीढ़ी का अड्डा था जहाँ दलित - सम्मान का पाठ पढ़ाया जाता था और निराला का मकान दलित युवा पीढ़ी का अड्डा था जहाँ दलितों के मुक्ति संघर्ष की योजनाएँ बनती थीं ।

चतुरी के घर अड्डा जमाने वाली दलित जातियों के लिए उस युग का प्रतिष्ठित साहित्य वर्जित क्षेत्र जैसा प्रतीत होता है ।

1- निराला रचनावली भाग-4 पृ0-364

निराला ने लिखा है -- "रचनाकर्म में नगण्यों की भूमिका बहुत अधिक है। नगण्यों में भी साहित्य की बहुत संभावना है । पुराने साहित्य में उदारता से अधिक अनुदारता है ।"[1] इसीलिए निराला को लगा था कि चतुरी के उपानह साहित्य में अबाध-चेष्टा,अपराजित - वृत्ति प्राप्तव्य थीं । निस्संदेह यह उस युग की साहित्यिक आकांक्षा थी जिसे निराला और प्रेमचन्द मूर्त कर रहे थे ।

निराला की कहानियों - उपन्यासों के दलित पात्र सवर्णों से हर मायने में बड़े थे । उन्होंने तुलना करते हुए लिखा,"कुल्ली,गाँधी और नेहरू से बड़ा था और चतुरी "बनारसी दास चतुर्वेदी और आचार्य द्विवेदी से बड़ा था ।" कुल्ली और चतुरी ने अपने संकल्प - बल से अपनी लड़ाइयाँ लड़कर जीती थी । चतुरी चमार की विजय का दृश्यांकन करते हुए निराला ने लिखा, "सत्तू बाँधकर,रेल छोड़कर ,पैदल दस कोस उन्नाव चलकर दूसरी पेशी के बाद पैदल ही लौटकर हँसता हुआ चतुरी बोला-"काका ,जूता और पुरवाली बात अब्दुल अर्ज में दर्ज नहीं है ।[2] इन थोड़े से शब्दों में

1-निराला - सुधा, जून 1930

2-निराला - रचनावली भाग - 4 , पृ0- 370

निराला ने दलित वर्ग की संघर्ष शक्ति,उसकी विजय गाथा और उसके चेहरे से झरती हुई हँसी की अभिव्यक्ति बिल्कुल नए तेवर के साथ थी । कुछ ऐसा ही तेवर"नए पत्ते" की "डिप्टी साहब आए" में भी उभरा था जो अपराजेय दलित आस्था का प्रतीक था - "तब तक बदलू के कुछ तरफदार आ गए— मन्नी कुम्हार,कुल्ली तेली,भकुआ चमार, लच्छू नाई,बाली कुहार कुल टूट पड़े - बदल गया सब रंग ,सब सत्य कहने के लिए तुल गए ।"[1] वर्गवादियों को सत्य कहने के लिए विवश करना ही निराला की परम्परा थी, यही हिन्दी की स्वस्थ सामाजिक परम्परा भी थी जिसका उत्स सिद्ध-नाथ एवं संत साहित्य में ढूँढ़ा जा सकता है । निराला ने उद्‌बोधन किया था, जब तक अछूत संगठित होकर जड़वादी कर्मकांडियों के विरूद्ध नहीं उठ खड़े होते तब तक मुक्ति संभव नही। " उन्होंने " लड़कर समाज को सजीव और बहुजनों वाला बनाने की अपील की ।[2] हिन्दी में पहली बार निराला ने अछूतों के लिए "बहुजन" और "दलित" शब्दों का प्रयोग किया । यही वे संदर्भ थे जिनके

1-निराला -रचनावली भाग -2 पृ0- 195

2-निराला - सुधा 16 अगस्त 1933

तहत निराला भद्र साहित्य के समानान्तर दलित चेतना की भित्ति पर खड़े "उपानह साहित्य" को पेश कर के रूढ़ रचनात्मकता के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त कर रहे थे ।

निराला का विश्वास था ,"भविष्य में जाति की बागडोर ब्राह्मण-क्षत्रियों के हाथ में नही रह सकती । उच्च वर्गवालों का ह्रास अब स्पष्ट दीख पड़ता है ।"[1] यह उनकी भविष्य दृष्टि थी ,जो आज सच साबित हो रही है । निराला को छोड़कर एक भी साहित्यकार , संपादक या राजनेता ऐसा नहीं था,जिसने समाज के भावी परिवर्तनों का इतना सूक्ष्म आकलन किया हो । शूद्रों - अछूतों के लिए गाँधी जी द्वारा सुझाए जा रहे हृदय परिवर्तन के रास्ते में निराला का विश्वास नहीं था । निराला ने लिखा था- "गाँधी जी का जीवन केवल बाहरी स्वतन्त्रता की लड़ाई का जीवन है ।[2] निराला भीतरी स्वतन्त्रता के लिए भी लड़ रहे थे । उन्होंने "अछूतोद्धार आन्दोलन" के लिए सनातन धर्मियों को कोसा और कई सार्थक सुझाव प्रस्तुत किए ।[3] समाज की अंतर्धारा की पहचान करते हुए

- -

1-निराला- सुधा ,नवम्बर 1932 -हिन्दुओं का जातीय अतीत

2-निराला- रचनावली -6 पृ0- 210

3-निराला - सुधा 16 नवम्बर 1933 -सनातन धर्म और अछूत

उन्होंने लिखा, "जिस तरह प्रकृति वर्णाश्रम धर्म को तोड़ रही है, उसी तरह दूसरी ओर शूद्र - शक्ति के अभ्युत्थान की तैयारी कर रही है ।"[1]

निराला अपने युग के किसानों में महादेव और चतुरी चमार की तलाश कर रहे थे । अध्यापकों में "कुल्लीभाट" और महिलाओं में " चमेली " को ढूँढ रहे थे। उन्हें किसी "नेहरू" की जरूरत नहीं थी । इसी तलाश का नतीजा था "उपानह-साहित्य" जो "जूता" से बनने वाले तमाम "मुहावरों" से ध्वनित हुआ था । महाभारत-प्रसंग के अनुसार , सूर्य ने "रेणुका" की रक्षा के लिए "उपानह" का उपहार दिया था । निराला भी सूर्यकान्त थे जिन्होंने दलित चेतना की रक्षा के लिए यह उपहार चतुरी के पूरे वर्ग को दिया था । उनका उपानह साहित्य "नवीन भारतीय समाज के आमूल सुधार"[2] का साधन था । हालांकि रूढ़िवादियों के लिए "उपानह- साहित्य" एक भद्दा प्रयोग था, लेकिन निराला का कहना था कि, "एकदेशीय दृष्टि से गंभीर प्रश्न पर विचार करना हृदय को कहीं चोट पहुँचाता है । रूढ़ियों के भीतर रह कर साहित्यिक मुक्ति संभव नहीं है ।"[3] वे परम्परावादियों को बार-

---

1- निराला - सुधा -दिस0 1933 "अधिकार -समस्या

2- निराला - रचनावली भाग - 6, पृ0- 30

3- निराला - सुधा, दिस0 1932 "साहित्य का विकास"

बार समझाते रहे,"शूद्रक-शक्ति आज सहस्र - सहस्र रामचन्द्रों को पराजित कर देने में समर्थ है ,अछूत ही आज भारत के प्रथम गण्य मनुष्य हैं । जनता साहित्य के साथ रहती नहीं,साहित्य के साथ लायी जाती है ।"[1] उपानह अनेक प्रतीकार्थों के साथ निराला द्वारा लाया गया साहित्य था । उनकी यह चेतना परम्परा के विरूद्ध संघर्ष की सक्रिय मुद्रा भी थी और एक गैर दलित लेखक द्वारा दलित चेतना का प्रामाणिक दस्तावेज भी । चतुरी ने इसी चेतना के द्वारा गाँवों में बेगार के सरकारी अभिलेख "वाजिब -उल-अर्ज" की प्रथा को चुनौती दी थी । इस "वाजिब-उल-अर्ज" के द्वारा निराला ने स्मृतियों और पुराणों की ओर भी संकेत किया था,जो कर्मकांडी छद्माचरण की आड़ में दलित शोषण के धर्मग्रन्थ बने हुए थे ।

"निरूपमा" में निराला ने लिखा था,"अगर चमार है तो समझना चाहिए,उसे जगह नहीं दी ऊँचे वर्ण वालों ने ,इसलिए उन्होंने कलम छोड़कर अपना पेशा अख्तियार किया है ।[2] निराला का "चमेली" उपन्यास अधूरा रह गया था परन्तु अपने अधूरेपन में भी वह दलित चेतना

1-निराला - सुधा ,जून 1933 "साहित्य और जनता"

2-निराला - रचनावली भाग-4 यामिनीबाबू का कथन

के स्फुलिंग बिखेरने में बेहद कामयाब रहा । चमेली दलित विधवा थी । महादेव दलित किसान था । चमेली के पास "औगी" थी -बैलों, घोड़ो और गधों को नियन्त्रित करने वाली "औगी" । महादेव के पास रद्दा था - वर्णवादी सामंती संस्कृति के विरूद्ध धारदार हथियार के रूप में इस्तेमाल होने वाला रद्दा । दलितों की अस्मिता पर हमले का सबसे स्वाभाविक तरीका, सामंती शक्तियों के पास, उनकी इज्जत पर हाथ डालना ही रहा है । जमींदार का सिपाही बख्तावर सिंह खलिहान में चमेली को अकेली पा कर उसका हाथ पकड़ लेता है । वह महादेव को आवाज देती है । इसके बाद निराला का चित्रण दृष्टव्य है-

"ठाकुर लाठी लिये तैयार थे ही । महादेव के हाथ में सिर्फ औगी थी । लेकिन वह पट्टा था और लड़ता था । ठाकुर की देह में सिर्फ दाढ़ी और मूछों के बाल थे और हाथ में एक तेलवाई लाठी ।

महादेव के आते ही ठाकुर ने वार किया । महादेव वार के साथ भीतर घुसा और कमर पकड़कर उठाकर ठाकुर को दे मारा । इसके बाद ठाकुर की बुरी हालत थी । कई जगह चोट आयी ।

× × × ×

महादेव ने अब तक खूब जी भरकर मार लिया था । रद्दे पर

रद्दे और घूँसे पर घूँसे चलाये थे । मारकर,गालियाँ देता हुआ छोड़कर, अपनी मड़नी की तरफ चला । गालियों ने ही लोगों को समझा दिया कि माजरा क्या था ।"[1]

निराला का महादेव दलित चेतना का जाग्रत स्वरूप था । निराला के लिए वह सच का महादेव था । स्मरणीय है कि "अप्सरा" में राजकुमार ने हेमिल्टन साहब को दे मारा था,धूल-धूसरित कर और रद्दे पर रद्दे लगाकर घायल कर दिया था । हेमिल्टन और बख्तावर सिंह दोनों वासना लोलुप,बलात्कारी,वहशीपन के शिकार थे । अप्सरा में राष्ट्रीय चेतना थी,जो चमेली तक आते-आते दलित चेतना में बदल गई । अप्सरा का चमेली होना,राजकुमार का महादेव होना,संक्रमण शील चेतना की महान घटनाएँ थीं । राष्ट्रीय चेतना को दलित चेतना में बदलने का यह योजनाबद्ध पहलू था,जिसे केवल निराला पहचान सके थे । वक्त को पहचानने में वे सचमुच अप्रतिम थे । आज राष्ट्रीय आन्दोलन में डा0 अम्बेडकर की भूमिका के बहाने उस युग के अंतर्विरोधों पर विचार प्रायः नकारात्मक दृष्टि से ही किया जा रहा है । राष्ट्रीय आन्दोलन के अधूरे-पन को रेखांकित करने वाली निराला की दृष्टि कहीं दिखायी नहीं पड़ती ।

1-रचनावली भाग-4 ,पृ0- 253

एक विशेष बात यह है कि निराला - साहित्य के दलित पात्र कहीं भी पराजित नहीं होते, न ही वे यथास्थिति को भोगने के लिए विवश होते हैं । लगभग इसी अवधि में प्रेमचन्द भी अपने कथा साहित्य द्वारा दलित यथार्थ की तलाश कर रहे थे । वे भी सामंती ,कर्मकांडी और महाजनी संस्कृति में पिसते दलित जीवन के सहभागी थे । परन्तु उनकी हिस्सेदारी महात्मा गाँधी से मूलतः भिन्न न हो सकी थी । गाँधी जी की ही तरह वे भी रक्त-क्रान्ति से घबराते रहे । गाँधी जी सविनय- अवज्ञा -आन्दोलन चला रहे थे और इसके द्वारा "हृदय परिवर्तन" की संभावनाओं को टटोल रहे थे । प्रेमचन्द का कथा-साहित्य भी "सविनयता"और "हृदय-परिवर्तन" के सिद्धान्त से मुक्त नहीं हो सका । हालांकि तुलसीदास परम्परावादी थे, परन्तु उन्होने भी विनय और प्रतीक्षा के विरोध में लिखा था - विनय न मानत जलधि जड़ - गए तीन दिन बीत ! बोले राम सकोप तब भय बिनु होई न प्रीत ।। दलितों का शोषण होते सहस्ताब्दियाँ बीत गईं परन्तु गाँधी और प्रेमचन्द का क्रोध जागृत नहीं हो सका । निराला ने तुलसी के राम के संदेश को इस रूप में ग्रहण किया कि उनका क्रोध जागृत हो उठा और उन्होने इस विषमता मूलक सामाजिक व्यवस्था को नष्ट करने

वाले विद्रोही और जुझारू दलित पात्रों की रचना की ।

प्रेमचन्द की कहानी "कफन" में दलित नारी बुधिया के पेट में बच्चा मर गया और इस प्रकार एक नई दलित पीढी की संभावना समाप्त हो गई । घीसू-माधव तो पहले ही व्यवस्था की चोट में आकर मानवता के आसन से च्युत हो चुके थे । दलितों का कोई प्रतिपक्ष नहीं उभर सका । "दूध का दाम" नाम कहानी में सुरेश§सवर्ण§ के विरूद्ध मंगल §.दलित § के यह कहने में, " तुम लोग बड़े चघड़ हो । आप तो मजे से सवारी करेंगे। और मैं घोड़ा ही बना रहूँगा ," दलित चेतना को आकार देने की कोशिश तो अवश्य थी,परन्तु यह तब नाकाम हो गई जब मंगल §दलित § को महेशनाथ §सवर्ण§ की जूठन खाने के लिए विवश कर दिया गया । परिस्थिति के एक खतरनाक संकेत के रूप में कुत्ते §टॉमी § के समानान्तर मंगल को रख दिया गया । "पूस की रात" में "हलकू" सूखी पत्तियाँ जलाकर एक क्षण के लिए गरम तो अवश्य होता है,परन्तु ठंडी हवाओं से परास्त होकर दूसरे ही क्षण सो जाता है । जानवर उसका खेत चर जाते हैं । यहाँ भी संकेत कहीं से दलितों की संघर्ष चेतना को रेखांकित करने वाले नही मिलता, यथार्थवाद का चाहे जितना शानदार नमूना हो । होरी किसान से मजूर होते हुए अन्ततः मृत्यु

को प्राप्त होता है,धनिया को "गोदान" करने पर बाध्य होना पड़ता है । यानी हिन्दी कथा साहित्य की वह अविस्मरणीय विद्रोहिणी भी परिस्थितियों के शिकंजे में फँसकर लुटेरे धर्माधिकारी के सामने सिर झुका देती है और गोबर का विद्रोही तेवर भी महानगरीय माहौल में आकर दम तोड़ देता है - लम्पट सर्वहारा का रूप धारण कर लेता है । "ठाकुर का कुआँ" में दलितों के जीवन के यथार्थ का वर्णन तो हुआ मगर दलितों की प्रतिरोधी चेतना मूर्त नहीं हो सकी । "सूरदास" का संघर्ष भी असफल रह गया । प्रेमचन्द दलितों के जीवन से रूबरू होते हैं, साझेदारी करते हैं परन्तु दलित चेतना को उसकी मंजिल तक नहीं पहुँचा पाते । दलित चेतना को लेकर निराला और प्रेमचन्द में यही फर्क है । निराला के दलित पात्र गुमनाम मौत नहीं मरते ,पलायन नहीं करते ,सामन्तों-सवर्णों से पराजित होकर उनका जूठन नहीं चाटते,बल्कि प्रतिपक्ष के रूप में खड़े होते हैं,लड़ते हैं और कामयाब होते हैं । कुल्ली "अछूतों" का दल बना कर मरता है, चतुरी उपानह के बल पर मुकदमा जीतता है, महादेव को रद्दा और चमेली को ओंगी पर भरोसा है ।

निराला ने "बेला" में लिखा था, "धोबी ,पासी, चमार ,तेली खोलेंगे अंधेरे का ताला । एक पाठ पढ़ेंगे टाट बिछाओ ।"

सवर्णों द्वारा दलितों के सामाजिक-राजनीतिक अधिकार का बंद ताला खुलना ही दलित जागरण था । निराला अपनी रचनाओं द्वारा दलित यथार्थ का लम्बा टाट बिछा कर दलित चेतना का पाठ पढ़ा रहे थे । गाँधी-युग का यह एक अजूबा था । गैर दलित निराला ने दलित चेतना के संदर्भ में जो लेखन किया, वह आज के दलित - साहित्यकारों के समक्ष खड़ा हो सकता है ।

डा० रामविलास शर्मा के अनुसार - "समाज में ऊँचनीच का भेद भाव मिटाने के लिए अनेक आन्दोलन हुए और निराला ने उन सबका समर्थन किया किन्तु वह उनसे अलग और उन सबसे आगे भी थे क्योंकि शिखासूत्र त्यागकर - आचार और विचार दोनों दृष्टियों से - वह द्विज और शूद्र की समानता घोषित कर रहे थे, रूढ़िवादी द्विज समाज की छाती पर पाँव रोपे हुए बार-बार ललकार रहे थे, तुमसे कुछ न होगा, भारत का उद्धार शूद्र जातियाँ ही करेंगी ।"[1]

दूधनाथ सिंह ने लिखा है कि " यह "शूद्र-चिन्ता" दर असल निराला की असली चिन्ता है ।"[2]

1-डा० रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना भाग-2 पृ०-33

2-दूधनाथ सिंह - "निराला आत्महंता आस्था" पृ०- 145

(iv) रेणु साहित्य में दलित चेतना

पहले कहा जा चुका है कि भारत के स्वाधीनता संग्राम में सामाजिक मुक्ति या दूसरे शब्दों में दलित मुक्ति का सवाल प्रमुख बना रहा । दक्षिण-पश्चिम भारत में पेरियार ,फुले, अम्बेडकर की परम्परा में इस धारा का जबरदस्त उभार था जिसके दबाव में गाँधी को अछूतोद्धार जैसे कार्यक्रम को स्वाधीनता संग्राम का अभिन्न अंग बनाना पड़ा । मध्य-उत्तर भारत में दलित धारा का स्वतन्त्र उभार नहीं दिखाई पड़ता । इसीलिए हिन्दी साहित्य में भी दलित प्रश्न राष्ट्रीय आजादी के प्रश्न के साथ घुले-मिले रूप में सामने आता है । प्रेमचन्द और निराला का साहित्य इसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधि है ।

आजादी के बाद के कुछ साल एक तरफ तो विभाजन के अवसाद और दूसरी तरफ नई जिन्दगी के मोहक सपनों मे ही निकल गए । इस दौरान कथा साहित्य में प्रमुख रूप से "नई कहानी" आन्दोलन सामने आया जिसमें आजादी के मोहक सपनों के रंगों के मध्यवर्गीय आँखों में फीका पड़ने की उद्घोषणा थी । "दलित प्रश्न" इस आन्दोलन की चिंता धारा से आम तौर पर बाहर ही रहा । ग्रामीण पृष्ठभूमि पर लिखने वाले रेणु, मारकण्डे,शिव प्रसाद सिंह जैसे कथाकारों ने जरूर समय-समय पर सामंती जड़ता से जूझते हुए दलितों का चित्रण किया ।इसका भी महत्वपूर्ण अंश सन् 60 के बाद के कथा साहित्य में ही मिलता है जो हमारे अध्ययन का प्रमुख विषय है । फिलहाल इसकी पूर्व

पीठिका के रूप में हम रेणु के महान उपन्यास "मैला आँचल" में चित्रित, दलितों के अंदर आ रही नवीन चेतना का संक्षिप्त अवलोकन करेंगे ।

मेरीगंज के अंचल को केन्द्रीय भूमि बनाकर "मैला आँचल" के लेखक ने हमारे सामाजिक जीवन में व्याप्त दमन और उत्पीड़न को स्वर दिया है । यहाँ दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व संथाल जाति के लोग करते हैं । इनके परिश्रम से मेरीगंज की सैकड़ों बीघे धरती आबाद करवा ली गई है । लेकिन फिर भी इन्हें गाँव वालों के साथ नहीं बसने दिया जाता । ये लोग निकटवर्ती जंगलों में ही बसते हैं । नीलहे साहबों के नील के हौज में इन्हीं का पसीना बहता है । फिर भी इनके पास अपने झोपड़े बाँधने के लिए अपनी जमीन नहीं है । ये लोग हल में जुते हुए बैलों की तरह दूसरों के लिए काम करते हैं । उनका किसी वस्तु पर अपना कोई अधिकार नहीं होता । वर्षों से वहाँ रहने के बाद भी उन्हें मेरीगंज का नहीं माना जाता । वे बाहरी आदमी है ।[1]

दलितों के उत्पीडन के साथ-साथ उनके संघर्ष का भी चित्रण मैला आंचल में मिलता है । यह संघर्ष सोशलिस्ट पार्टी के स्थानीय

- -

1- रेणु - "मैला आंचल" - पृ0- 199

कार्यकर्ता कालीचरन की अगुवाई में होता है । कालीचरन संथालों के सुख-दुख की बात कहता है, उनके छीने गए अधिकारों को वापस दिलाने की बात कहता है । इसीलिए युगों से दलित - उत्पीडित संथालों को उसकी बातें आकर्षित करती हैं । कालीचरन कहता है - " मैं आप लोगों के दिलों में आग लगाना चाहता हूँ । सोये हुए को जगाना चाहता हूँ । सोशलिस्ट पार्टी आपकी पार्टी है, गरीबों की, मजदूरों की पार्टी है । सोशलिस्ट पार्टी चाहती है कि आप अपने हकों को पहचानें । आप भी आदमी हैं, आपको आदमी का सभी हक मिलना चाहिए । मैं आप लोगों को मीठी बातों में भुलाना नहीं चाहता । वह कांग्रेस का काम है । मैं आग लगाना चाहता हूँ ।"[1] कालीचरन जमीन जोतने वाले किसानों को उनके अधिकारों का स्मरण कराता है । उसकी पार्टी में सब बराबर हैं ,सब साथी हैं । सोशलिस्ट पार्टी के बारे में अपने साथी बासुदेव को समझाते हुए वह कहता है - "यही पार्टी असली पार्टी है । गरम पार्टी है । "किरान्ती दल का नाम सुना था ? ..... "बम फोड़ दिया फटाक से मस्ताना भगत सिंह" यह गाना नहीं सुने हो । वही पाटी है । इसमें कोई लीडर नहीं । सभी साथी है ,सभी लीडर है । सुना नहीं । हिंसा बात तो बुरजुआ लोग बोलते हैं । बालदेव जी तो बुरजुआ है ।[2] गाँव में सोशलिस्ट पार्टी

1-रेणु-मैला आंचल - पृ0- 158

की सभा शोषित संथालों में इतना उल्लास भर देती है जितना अस्पताल खुलने पर उन्हें नहीं हुआ ।"..... लेकिन यह सभा उनके लिये अतिशय महत्वपूर्ण है ।..... जमीन जोतने वालों की ? ..... यह बात उनके मर्म को छू लेती है । कर्तव्यनिष्ठ और मेहनती संथाल किसानों के दिमाग की मुद्दत से उलझी गुत्थी का सही सुलझाव । जमीन जोतने वालों की सभा ।"[1]

इससभा में प्रश्न है — जमीन किसकी ? इसका उत्तर भी है — जोतने वाले की । जो जोतेगा, वह बोवेगा, जो बोवेगा वह काटेगा । कमाने वाला खायेगा, इसके चलते जो कुछ हो । कालीचरन की दो टूक स्पष्ट बात संथालों के मन की बात है । शहर से आए हुए सोशलिस्ट सैनिक जी सभा में बोल रहे है —"यह जो लाल झण्डा है, अवाम का झण्डा है, इंक्लाब का झण्डा है, इसकी लाली आफ़ताब की उगती हुई लाली है, यह खुद आफ़ताब है । इसकी लाली, इसका रंग क्या है ? .....रंग नहीं । यह गरीबों, महरूमों, मजलूमों, मजदूरों, मजबूरों के खून से रंगा हुआ झण्डा है ।..... जिस तरह सूरज का डूबना

1- रेणु - " मैला आंचल ", पृ0- 106

एक महान सच है, पूँजीवाद का नाश होना भी उतना ही सच है । मिलों की चिमनियाँ आग उगलेंगी और उन पर मजदूरों का कब्जा होगा । जमीनों पर किसानों का कब्जा होगा । चारों ओर लाल धुआँ मंडरा रहा है । उठो किसानों के सच्चे सपूतों । धरती के सच्चे मालिकों, उठो । क्रान्ति की मशाल लेकर आगे बढ़ो ।"

इसके माध्यम से लेखक यह स्थापित करता है कि संथालों में अपने अधिकारों का अहसास हो गया है । इसके बाद वे संगठित होकर जमींदारों के खिलाफ जबरदस्त संघर्ष करते हैं । उनकी जाने जाती हैं । उनका यह संघर्ष अन्ततः असफल रहता है क्योंकि ग्रामीण समाज में काम कर रहे निहित स्वार्थी तत्वों की एकता सरकारी तन्त्र और कांग्रेस तथा सोशलिस्ट पार्टी के अवसरवादी तत्वों के साथ स्थापित हो जाती है । संथालों के संघर्ष को उभारने के लिए गरमागरम बातें करने वाले नेता अन्त में कानून-व्यवस्था की दुहाई देते हुए पीछे हट जाते हैं । चलित्तर कर्मकार के माध्यम से रेणु ने दलित समाज से ही आए उनके वास्तविक नायक का संकेत दिया है मगर वे इसे विकसित नहीं कर सके है । फिर भी इस दलित नायक के माध्यम से उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य

में दलित चेतना की अविस्मरणीय कड़ी को पेश किया है ।

चलित्तर कर्मकार के चरित्र को विकसित करने की जगह रेणु " मैला आंचल" के अंदर नहीं बना सके । फिर भी उससे जनमानस के लगाव और शोसकों की नफरत का वर्णन करके उन्होने भविष्य की उम्मीद के रूप में उसके चरित्र को सवाँरा । वे लिखते है --"चलित्तर को कौन नहीं जानता । बिहार सरकार की ओर से पंद्रह हजार इनाम का एलान किया है । हर स्टेशन के मुसाफिर खाने में उसकी बड़ी सी तस्वीर लटका दी गई है । पुलिस, सी0आई0डी0 और मिलिटरी का एक स्पेशल जत्था उसे गिरफ्तार करने के लिए साल-भर से जिले के कोने-कोने में घूम रहा है । नए एस0 पी0 साहब ने प्रतिज्ञा की है ,या तो चलित्तरको गिरफ्तार करेंगे अथवा नौकरी छोड़ देंगे ।.... घर-घर मे चलित्तर की कहानियाँ होती हैं । नेताजी के सिंगापुर में आने के समय गाँव-घर, घाट-बाट,नाच-तमाशा में लोग जैसी चर्चा करते थे, वैसी ही चर्चा चलित्तर की भी होती है ।"[1]

दलित जनता के मन-मस्तिक में बनी तस्वीर से भी

1- रेणु - "मैला आंचल" पृ0- 274

अधिक उसके दुश्मनों की नफरत किसी पात्र के चरित्र के बारे में बताती है । चलित्तर कर्मकार के बारे में जनता के दुश्मन बजरंगी सिंह का कथन है——

"..खैर सुन लीजिए । चलित्तर कर्मकार को न तो देश से मतलब है, न गाँव से और न समाज से । उसका पेशा है डकैती करना,लूटना । वह समाज का दुश्मन है, देश का दुश्मन है । ...अभी देखिए,हाल ही में कम्युनिस्ट पार्टी वालों ने एक पर्चा निकाला है । लिखा है,कामरेड चलित्तर पर से वारंट हटाओ । चलित्तर कर्मकार किसानों और मजदूरों का प्यारा नेता है ।... अब आप ही बताइए कि कोई हत्यारा और डकैत कैसे किसी का प्यारा नेता हो सकता है ।"[1]

एक सजग लेखक की तरह रेणु ने न सिर्फ दलितों के एक सच्चे नायक की कल्पना की बल्कि उनकी राजनीतिक पार्टी के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी की तरफ उन्होंने संकेत दिया । कालीचरन को डकैती का आरोप लगने पर सोशलिस्ट पार्टी बहिष्कृत कर देती है जबकि चलित्तर के पक्ष में कम्युनिस्ट पार्टी मजबूती से खड़ी होती है । जनता की लड़ाई लड़ने वालों के खिलाफ

1- रेणु "मैला आँचल" ,पृ0- 284

सरकारी मशीनरी तथा उसके इस्तेमाल का पर्दाफाश किया गया है ।

जेल में कालीचरन को फरारी हालत में चलित्तर कर्मकार से हुई मुलाकात की याद आती है । उसने कहा था चलित्तर से "... अरे हम हैं उस्ताद । खाली हाथ पार्टीवाला कालीचरन ।" चलित्तर ने एक बार कहा था," इस खाली हाथवाली पार्टी मे रहकर सब दिन खाली हाथ ही रहेंगे । पीछे तो बहुत बहस किया । आखिर में चलित्तर ने कहा था,"तुमने हमको उस्ताद कहा है । गाड़े बिपत में कभी जरूरत पड़ने पर याद करना ।" कालीचरन ने हँसकर कहा था,"उसकी जरूरत नहीं पड़ेगी ।"

जेल से भागने के बाद किसी तरह जब कालीचरन सोशलिस्ट पार्टी के आफिस पहुँचता है तो आफिस सेक्रेटरी राजबल्ली जी दरवाजा खोलते हैं । "ऐ ? कौन । कालीचरन ?" सेक्रेटरी साहब भी फड़फड़ा कर बाहर आते हैं ।

"जी ! लगता है, जाँघ में गोली लग गई है...।"

"तुम्हारे कलेजे पर गोली दागी जानी चाहिए । डकैत ! बदमाश ।"

"सेक्रेटरी साहब ! इसीलिए तो...। इसीलिए तो... आपके पास आए है । सुन लीजिए ।.. माँ कसम ,गुरू कसम,देवता किरिया जिस रात...उस रात को हम...यहाँ जिला पार्टी आफिस में था ।"[1]

बेचारे कालीचरन को उम्मीद थी कि हकीकत जानकर उसके नेताओं का रवैया बदल जाएगा मगर वे उसके मुँह पर दरवाजा बंद कर देते हैं । बगल के जंगल में लौटते हुए उसे चलित्तर की याद आती है ।

...चलित्तर कर्मकार ने कहा था --"गाढ़े बिपद में खबर करना । चलित्तर कर्मकार ।"[2]

स्पष्ट तौर पर रेणु दलित संघर्ष की एक विकसित चेतना का प्रतीक स्थापित करते हैं । इसे विकसित करने का काम उनके बाद के कथाकारों का था । हम आगामी अध्ययन में इस दिशा में किए गए उनके प्रयत्नों की जाँच करेंगे ।

1- रेणु - "मैला आँचल" पृ0- 279

2- रेणु - "मैला आँचल" पृ0- 280

अध्याय- 3

साठोत्तरी कहानियों में दलित चेतना

हिन्दी कथा साहित्य में दलित चेतना की दृष्टि से कहानियों की स्थिति उपन्यासों के मुकाबले अपेक्षया कमजोर रही है । इसका कारण तलाशने के लिए तो स्वतन्त्र समाजशास्त्रीय विश्लेषण की आवश्यकता है । मगर प्रेमचन्द की इस विषय पर लिखी गई कुछ बेहतरीन कहानियों (जिनका अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं) के बाद लगभग तीन दशक तक इस क्षेत्र में कुछ खास उल्लेखनीय न हो सका । आगे चलकर साठ के दशक में जब सामाजिक संघर्ष अत्यन्त तीखे हुए और राजनीतिक क्षेत्र में उनकी अभिव्यक्ति होने लगी तो कहानियों में भी उनकी अनुगूँज सुनाई पड़ी और दलित जीवन को केन्द्र करके कुछ अत्यन्त मार्मिक कहानियाँ लिखी गई । इन कहानियों को चेतना के स्तर पर दो भागों में बाँट सकते हैं ।

(1) शोषण की चेतना से युक्त कहानियाँ

(2) संघर्ष की चेतना से युक्त कहानियाँ

हम पहले भाग की कहानियों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बाँट सकते है ।

(i) प्रत्यक्ष शोषण की कहानियाँ

इन कहानियों में दबंग सवर्णों को बलपूर्वक दलितों का

(ii) अप्रत्यक्ष शोषण की कहानियाँ -

ये सदियों पुराने रीति -रिवाजों और विश्वासों का सहारा लेकर दलितों को प्राय: पुरोहित वर्ग द्वारा दबाने और उत्पीड़ित करने की कहानियाँ है ।

उत्पीड़न के विरूद्ध संघर्ष चेतना से सम्पृक्त कहानियों की विचारधारा की दृष्टि से दो भागों में बाँटी जा सकती है -

(i)अहिंसक संघर्ष का मार्ग सुझाने वाली कहानियाँ-

ये कहानियाँ भारत के लोकतान्त्रिक ढाँचे के अनुरूप अहिंसक संघर्ष का रास्ता दिखाती हैं ।

(ii)हिंसक संघर्ष की वकालत करने वाली कहानियाँ-

इन कहानियों में दलितों की समस्या का समाधान हिंसक गतिविधियों में सुझाया जाता है ।

(1)शोषण की चेतना से युक्त कहानियाँ

1.(i) प्रत्यक्ष शोषण की कहानियाँ

इस दृष्टि से सर्व प्रथम उल्लेखनीय मार्कण्डेय की कहानी "मधुपुर के सिवान का एक कोना" , प्रेमचंद की कहानी "सवा सेर गेहूँ" की परम्परा का विस्तार है । महाजनी शोषण के शिकार दलित अभी संघर्ष की चेतना और उसका साहस तो नहीं जुटा पाते हैं, मगर उनमें आपसी एकजुटता

और एक दूसरे के लिए त्याग की भावना प्रकट होती है ।

कहानी में मुन्नन नामक दलित युवक ठाकुर के यहाँ बंधुआ मजदूर के रूप में काम करता है क्योंकि उसके माँ-बाप ने ठाकुर से पचा रू० उधार लिए थे और वापस करने से पहले ही काल-कवलित हो गए । मुन्न की हालत दयनीय है । "बायीं आँख में बैल की सींघ लग जाने से आँख की ए पुतली सूज कर बाहर निकल आयी है और लगातार मियादी बुखार ने उसे तो कर काला, बेजोड़ और असमय बूढ़ा बना दिया है ।"[1] ठाकुर के खेत पर काम क हुए उसने बेचन की बेटी हीरा को एक बार शहर के अपने अनुभव सुनाए थे जिस बाद वह मन ही मन उस पर अनुरक्त हो गई थी ।

एक दिन बैलों की जोड़ी के साथ कंधे पर नार-मोट लाद कर घर लौटते हुए मुन्नन को बैलों ने बहुत तंग किया । बार-बार खेतों में दौड़ कर फसलों को रौंद दिया । बड़ी मुश्किल से काबू में आए । घर लौटने पर ठा-र के लड़के ने उसके सीने पर चढ़कर मनमाने घूँसे चलाए । वह जमीन पर गिरकर तड़-ने लगा और बेहोश हो गया ।

ठाकुर के लड़के द्वारा मुन्नन को मारना ही कहानी की केन्द्रीय घटना है । इस पर विभिन्न लोगों की अलग-अलग प्रतिक्रिया होती है

1- मार्कण्डेय, "चुनी हुई कहानियाँ", पृ0- 105

जो उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि और वर्ग-आधार के अनुकूल है । नरेश जो घर से मजूरी लेने ठाकुर के यहाँ आया है, मुन्नन के सिर को गोद में लेकर सहलाते हुए कहता है--"बड़ी बात आती है, ठाकुर । इसके भी माँ-बाप होते, कोई सिर पर छाँह होती, घर - द्वार होता तो इस तरह बात न निकलती । पचास रूपये करज लेकर इसका बाप क्या मरा, बेचारे की जिनगी ही गिरों धरा ली गयी । आखिर क्या कसूर था इस बेचारे का ? एक आदमी नार-मोट भी लादे और दो बैलों को भी सँभाले, जरा एक दिन कोई माई का लाल पहुँचा कर दिखा तो दे ।"

जहाँ एक तरफ एक मजूर मुन्नन के पक्ष में खतरा उठाकर भी बोलता है, हालांकि वह व्यक्तिगत रूप से उसे पसंद नहीं करता है वहीं दूसरी तरफ ठाकुरों के परिवार के भलेमानस भी मुन्नन की जगह अपने आततायी बेटे का ही समर्थन करते प्रतीत होते है । बूढ़े हिरावन बाबा छोटे ठाकुर को समझाते हुए कहते हैं --"पशु परानी प्यार से सुधारे जाते है, बेटा । इस तरह हाथ उठाने से तो आदमी की इज्जत जाती रहती है ।"[1]

1- मार्कण्डेय, "चुनी हुई कहानियाँ" , पृ0- 108

ठकराइन ,जिन्हे मजूर दया-माया की मूर्ति समझते है और ठाकुर की प्रतिक्रिया नरेश वगैरह को एक लड़का आकर बताता है--

"..... ठकुरानी काकी तो कह रही थीं,"कहीं मर न जाय, गांव की हवा बड़ी खराब है । अब अपना बेगाना कोई नहीं चीन्हता देखा नहीं नरेश बबुआ को,कैसी कड़ी-कड़ी बात.....।

नरेश बीच में बोल उठा,"भउजी ! बड़की भउजी कह रही थीं ?"

"हाँ । और ठाकुर कह रहे थे, "अच्छा तो नरेश और बचन की यह मजाल । दोस्ती निभा रहे है । बंता §मुन्नन का बाप§ से ? पचास रू० का सूद-मूर मिला कर पाँच ही सौ तो हुए है । देकर ले क्यो नहीं जाते साले को ?"[1]

अंतत: मुन्नन के लिए और कुछ कर पाने में असमर्थ उसके पिता के पुराने मित्र बचन ने अपनी बेटी हीरा का हाथ उनके हाथ में देने का फैसला कर लिया । हीरा पहले से ही उसे चाहती थी । मुन्नन इसे समझता तो था लेकिन उसकी हिम्मत बात आगे बढ़ाने की नहीं पड़ती थी । इस फैसले पर नरेश के आश्चर्य व्यक्त करने पर बचन उसे जवाब देता है --

---

1-मार्कण्डेय , "चुनी हुई कहानियाँ" , पृ०- 111

"मुन्नन को बचाने का कोई दूसरा उपाय नहीं नरेश । अगर ठाकुर उसे घर से निकाल भी दे, तो उसे साथ रखना ठाकुर से लड़ाई लेना ही होगा । वह अकेला कहीं जाने लायक भी तो नहीं, और मैं....जानते हो, इस मधुपुर के सिवान के कोने को छोड़कर कहीं जा नहीं सकता ।"[1]

"पुराने समाज के पास ऐसे बहुत से साधन होते हैं जिनके द्वारा वह नई ताकतों को समझौता करने के लिए बाध्य कर सकता है । हालांकि पुराना समाज स्वयं कभी समझौता नहीं करता ।"[2]

यह कहानी एक साथ गाँव की जिंदगी में आने वाले बदलावों और दलितों के जीवन के ठहराव को चिन्हित करती है । गांव में नहर आने से सिंचाई के परंपरागत नार-मोट जैसे साधन बेकार होने को हैं । मजूर बेकार हो रहे हैं । हल के जगह ट्रैक्टर आने की भी संभावना है । शहर का आकर्षण बढ़ रहा है । शहरके अनुभवों की वजह से मुन्नन को हीरा का प्यार अनायास ही प्राप्त हो जाता है । लेकिन इसके बावजूद भी ठाकुर का आतंक जस का तस है । दलित अपने जीवन को बदलने के लिए संगठित नहीं हो पा रहे हैं । शासन तन्त्र प्राय: अनुपस्थित है और सामाजिक संगठन का पलड़ा ऊँची जातियों के पक्ष में झुका रहता है । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कहते हैं-

---

1-मार्कण्डेय, "चुनी हुई कहानियाँ" , पृ०- 115

2-लू शुन, कला, साहित्य और संस्कृति, पृ०- 60

"मार्कण्डेय ने वर्ग - वैषम्य, शोषण, असमानता, रूढ़ियों एवं अंध विश्वासों पर अपनी कहानियों में कठोर प्रहार किए हैं ।"[1]

मधुकर सिंह की कहानी "हरिजन सेवक" में कथावाचक दुसाध टोली में अपने बचपन को याद करता है जब मुंशी रामशरण लाल नामक उच्च जातीय गाँधीवादी उन्हें पढ़ाने के लिए कृपापूर्वक आए थे । आजादी की लड़ाई में जेल जाने वाले मुंशी रामशरण लाल "जनकल्याण की भावना से ही इस पेशे में चले आये हैं, वहीं तो खाने-पीने की उन्हें कोई कमी नहीं थी ।"[2] मास्साब शुद्ध शाकाहारी आहार वाले व्यक्ति थे । खद्दर ओढ़ते ही नहीं बिछाते भी थे । छुआछूत का सख्ती से पालन करते थे । दुसाधों का छुआ हुआ पानी नहीं पीते थे मगर उनके सुन्दर लड़कों को अपने पास बिठाकर सहलाया करते थे । पूछने पर जवाब देते, "तुम लोग भी तो उसी परमात्मा के बनाए हो जिसे गाँधी जी हरिजन कहते हैं ।"[3]

1- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, "द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य" पृ०- ।

2-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण, पृ०-87

3-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण, पृ०-89

मास्साब का तो वहाँ से तबादला हो गया मगर कुछ हरिजन बच्चे पढ़ लिख भी गए । जिनमें एक कथावाचक भी है । "मैं भी आई0 ए0 करने के बाद बाबू के बदले मालिक की हलवाही करता हूँ, मगर समय पलटा खाता है तो गजब ढंग से खाता है । उन बड़े लोगों के पास ही गाँव की सारी जमीन है । हरिजनों की जीविका का साधन मात्र इन्हीं की मजूरी, बनहारी और चरवाही है । लोग बाप-दादों के जमाने से ही हमसे काम भी लेते है और सूद भी लेते है । भादों में खाने के लिए पाँच मन चावल कर्ज दिया तो अगहन में साढ़े बारह मन वसूलते हैं । बारहों महीने इनके यहाँ पूरी हरिजन टोली जानवर के माफिक खटने के बाद भी अधपेटा और अधनंगा है । हमारी औरतों की आबरू भी उन्ही की मर्जी पर है । इधर कुछ दिनों से हमारी जुबान खुलने लगी है । मास्साब की कृपा से कुछ हरिजन पढ़ लिखकर तैयार हुए है । मालिकों ने जब सुना कि सरकार उनसे अनाज लेबी के रूप में वसूल करने जा रही है तब उन्होने सरकार का बदला हमसे लेना शुरू कर दिया ।"[1]

गाँव में जायज मजदूरी के बिना दलित मजदूर काम करना बंद कर देते है और अनेक कष्ट उठाकर 10 मील दूर शहर में काम की

1-दलित जीवन की कहानियाँ -सं. गिरिराज शरण - पृ0- 97

तलाश करते हैं । गाँव के उच्च जातीय खेत-मालिकों के लिए यह स्थिति बर्दाश्त के बाहर है । वे उन्हें तंग करने के लिए उनके बच्चों को पीटते हैं और उनकी बहू-बेटियों से छेड़खानी और बलात्कार तक कर देते हैं । लोगों के आक्रोश को कुचलने के लिए दुसाध बस्ती में बम फोड़ दिया जाता है। अगले दिन पुलिस आकर इसी बस्ती के एक व्यक्ति की राइफल के बट से मारकर हत्या कर देती है मगर कहीं सुनवाई नहीं होती । बाद में पता चलता है कि पुलिस ने इस गाँव के 16 - 17 नौजवानों को अपनी रिपोर्ट में नक्सलपंथी घोषित कर दिया है जिसमें कथावाचक लगन राम का नाम भी है । इसके बाद उनकी बस्ती में आग लगा दी जाती है । पूरी बस्ती जलकर खाक हो जाती है । तफतीश में आई पुलिस लगनराम समेत तमाम दुसाध नौजवानों को ही इस घटना के लिए जिम्मेदार बताकर जेल में डाल देती है ।

जेल जाते समय उनकी भेंट अकस्मात् मास्साब से हो जाती है । कथावाचक के शब्दों में इस मुलाकात का वर्णन ------

"आप जेल के फाटक पर कैसे मास्साब ।" मैंने पहले ही पूछा ।

"सब साले चोर हैं, राष्ट्र सेवियों की अब कोई मर्यादा नहीं रही ।"

"क्या फिर वहाँ से आपकी बदली हो गयी ?"

"अबे नहीं, साले," पुलिस अफसर से भी ज्यादा तेज मुंह चलाने लगे ," देश के लिए तीन साल तक जेल में रहा । अब जेल वाले कहते है कि कोई रेकार्ड नही है । प्रधानमन्त्री की लालसा है कि सभी स्वतन्त्रता-सेनानियों को पेंशन दें और जेल के अधिकारी बोलते हैं कि घूस दो तो सार्टिफिकेट बनाएंगे । मगर तुम लोग पुलिस की गाड़ी में कैसे हो ?"

"हम भी तो देश के लिए ही जेल जा रहे हैं , मास्साब।"

"किस देश के लिए ? "

"अपने देश के लिए—इन्डिया के लिए । आप यहाँ की नदी और पहाड़ के लिए जेल गये थे, मास्साब, हम यहाँ की जनता के लिए जेल जा रहे हैं ।"[1]

इस कहानी में अनेक गाँधीवादियों की हरिजन सेवकाई की जमकर बखिया उधेड़ी गई है । छुआछूत से लेकर नैतिकता के उनके दोहरे मापदण्डों और अंततः, उच्च जातीय अंह से ग्रस्त संस्कारों के चलते, उत्पीड़कों के पक्ष में खड़े होने की प्रवृत्ति को भी रेखांकित किया गया है । लेकिन

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण - पृ0- 97

सबसे गौरतलब बात यह है कि हरिजनों को शिक्षित करने का प्रयास चाहे जितना पाखंडपूर्ण रहा हो मगर इस प्रक्रिया में भी थोड़ी बहुत शिक्षा उन्हें मिली।उसका दोहरा असर हुआ । एक तरफ तो समाज के प्रतिष्ठित वर्ग के पक्ष में लोगों की भावनाएँ मुड़ी और उनके संभावित आक्रोश पर ठंडा पानी पड़ा वहीं दूसरी तरफ इसी शिक्षा के चलते कुछ लोगों में विद्रोही चेतना भी पैदा हुई । कुल मिलाकर यह कहानी दलितों पर ढाए जाने वाले बहुविध जुल्मों का अनूठा दस्तावेज है ।

"आषाढ़ का एक दिन" शीर्षक कहानी में जवाहर सिंह ने अपनी मेहनत के उचित मूल्य की माँग करने वाले दलितों पर पुलिस और प्रशासन के सहयोग से गाँव के दबंगों द्वारा ढाए जाने वाले जुल्मों का चित्रण किया है । इन्दिरागाँधी के राज में गाँव के हरिजनों में नई आशा जगी है कि समाजवाद आएगा और जमीन जोतने - बोने वालों की हो जाएगी । कहानी का नायक भगेलू कहता है ------

"अच्छा फूलो की माँ ,एक बात तो बताओ,"भगेलू सहसा चिहुँक कर बोला,जैसे कोई नयी चीज उसे मिल गई हो,"खेत-जमीन मिलने की बात तो कुछ समझ में भी आती है,लेकिन यह समाजवाद क्या होता है...मुझे

लगता है ,खेत-जमीन की तरह की वह भी कोई चीज होगी,जो गरीबों की भलाई के लिए होगी । जब हमें खेत मिलेंगे तो साथ-साथ समाजवाद भी मिलेगा।

हरिहर राम मास्टर के बुलाने पर शहर से हरिजन संघ का एक नेता आता है और गाँव में हरिजन संघ की स्थापना कर देता है । गाँव में इसकी जबरदस्त प्रतिक्रिया होती है । सवर्ण अपनी ज़मीनें वापस ले लेते हैं,जो उन्होंने हरिजनों को जोतने बोने के लिए दी थी । गाँव के दो बड़े किसान ललन तिवारीऔर हीरासिंह यहाँ तक घोषणा कर देते हैं कि अपने खेतों के रास्ते वे न तो हरिजनों को आने जाने देंगे और न अपने खेतों में उन्हें टट्टी-पखाना करने देंगे ।

भूख से व्याकुल हो जाने पर भोलू अपनी पत्नी सुरजी से कहता है कि वह हरिहर सिंह के भाई शिवनाथ सिंह के ब्रह्मस्थान वाले खेत से थोड़ा सकरकन्द खोद लाने जा रहा है ।

"अरे ,वह सकरकन्द तो मैंने ही बटाई में बोया है । आधा हिस्सा मेरा भी तो उसमें है । "

"कुछ भी हो मत जाओ.... जब ठेका बटाई सब खेत मालिक लोगों ने छीन लिया तो अब हिस्सा-बखड़ा कहाँ रहा....शिवनाथ

सिंह वैसे ही तुमसे नाराज हैं, कहीं खेत में सकरकन्द खोदते देख लिया तो मारकर फेंक देंगे । जाओ चुपचाप सो जाओ ।"

"तुम बेकार इतना डर रही हो । मारकर फेंक देना क्या गाजर-मुरई है । चारपुश्त से उनकी हलवाही कर रहे हैं हम लोग, समय कुसमय सब तरह का काम कर देते हैं । क्या शिवनाथ सिंह की आँख का पानी इतना गिर गया है कि थोड़ी सी सकरकन्द के लिए मुझ पर हाथ छोड़ देंगे ।"

अगले दिन भगेलू की लाश हरिहर राम मास्टर के घर के पिछवाडे बाँसबाड़ी में पड़ी मिली । हीरासिंह और गाँव का मुखिया चंदन पाँडेय पुलिस की तफतीश के दौरान दारोगा को प्रलोभन देकर अपनी थ्योरी मनवा लेते हैं कि," अरे समझना क्या है । दारोगा जी पुराने अनुभवी आदमी हैं, सब बात समझ गए होंगे... गाँव के मुखिया चंदन पाँडे ने मुस्कराते हुए कहा, "सारा गाँवजानता है कि भगेलू का संबंध हरिहर चमार की भौजाई से था । बेचारा घर में ही पकड़ा गया होगा । शास्त्र में कहा भी गया है, चोर-छिनार की मौत ऐसी होती है...विधि का विधान ।"

"दरोगा जी ने पुलिस को हरिहर मास्टर और उसके बड़े भाई को पकड़ लाने का आदेश दिया और स्वयं हीरासिंह तथा मुखिया

जी के साथ जीप में बैठकर नाश्ता करने चल पड़े ।"[1]

इस कहानी में महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ चित्रित की गई चेतना का स्रोत इंदिरा गाँधी का समाजवादी नारा है न कि डा० अम्बेडकर के विचार । छिपे हुए रूप में यह सच्चाई अभिव्यक्ति होती है कि पुराने राजतन्त्र और सामाजिक वर्गीकरण के बने रहने पर समाजवाद के लक्ष्य की घोषणा से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

नरेन्द्र मौर्य की कहानी "कमीज" में भैंस लाने के लिए बलपूर्वक भेजे जाने पर जाते हुए चरवाहे रामा की मौत और इसके बाद मालिकों के अमानुषिक चरित्र का वर्णन है । कथावाचक मालिक के परिवार का एक नौजवान है जो छुट्टियों में शहर से घर आया हुआ है । रामा की लाश घर के सामने लाकर रखे जाने और उसकी पत्नी के विलाप से विचलित कथावाचक यह देखकर स्तब्ध रह जाता है कि उसकी भाभी अपने बच्चे पप्पू से कहती है कि ,जाओ "बाहर तमाशा आया है।" उसके पिताजी घर में चल रही पूजा खत्म कर बाहर आते है ।

आखिर पिता जी बाहर आए,"देख रज्जो§रामा की

1-दलित जीवन की कहानियाँ,सं. गिरिराज शरण- पृ0- 66

पत्नी ,जन्म-मरण भगवान के हाथ में है । फिर भी अब तू आई है तो दस-पन्द्रह किलो गेहूँ ले जा।"[1]

अगले दिन कथावाचक उसके घर जाकर उन्हें अपने कुछ पुराने कपड़े दे आता है जिसमें उसकी कमीज भी है । रामा की जगह उसका छोटा भाई काम पर लग जाता है । अगली बार छुट्टी में घर आने पर रामा का बेटा उसे देखकर कहता है कि--"माँ आज भी नदी में पानी है । यदि काका आज बह जाएगा तो छोटे भैया मुझे भी कमीज लाकर देंगे ।"

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण - पृ0-70

1.§ii§ अप्रत्यक्ष शोषण की कहानियाँ

साठोत्तरी कथा साहित्य में दलितों के अप्रत्यक्ष शोषण की कहानियाँ, जिनमें संघर्ष की चेतना न हो, बहुत कम मिलती हैं। कारण स्पष्ट है। प्रेमचन्द की "सद्गति" का युग बहुत पीछे छूट चुका था। पारंपरिक रीति-रिवाजों और विश्वासों तक भी संघर्ष की चिंगारी पहुँच चुकी थीं। फिर भी एक प्रवृत्ति के उदाहरण के बतौर यहाँ दो कहानियाँ प्रस्तुत की जा रही है।

श्री विलास डबराल की कहानी "बिच्छुघास" में बचपन के दो साथियों दुर्गादत्त सिंह और मूसा डोम के अर्से बाद एक होटल में ग्राहक और बैरे के रूप में मिलने का उल्लेख है। मूसा जिसे होटल में सब महेश के नाम से जानते है अपने सामने दुर्गा ठाकुर को देखकर डर जाता है और उसकी मेज पर रखा हुआ पानी का गिलास लेकर वापस जाने लगता है कि दुर्गासिंह उसे रोकता है और कहता है--"यह क्या करते हो मूसा दा।" दुर्गादत्त ने आहिस्ता से कहा--"मैनेजर क्या सोचेगा...जाओ खाना लाओ।"[1]

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण, पृ0- 140

लेकिन मूसा किसी दूसरे के हाथ खाना भेजकर वहाँ से चंपत हो जाता है ।

इस परिस्थिति की खूबी है कि ठाकुर साहब को तो अत्यधिक उदार और मानवीय मगर दलित को अपने संस्कारों का कैदी दिखाया गया है । कुछ हद तक ऐसा है भी मगर मूसा के इस व्यवहार का संबंध बचपन की एक स्मृति से है । बचपन में एक बार जब वे दोनों स्कूल जा रहे थे तो दुर्गा की रोटी उससे छू गई थी जिस पर उसने हेडमास्टर से कहकर उसे बिच्छुघास की छड़ी से पिटवाया था । इसके बाद उसने हाफ टाइम के समय अपनी रोटियाँ उसे ही खाने को दे दी थी कि, "तू नहीं खायेगा तो गाय-गोरूओं को देनी पड़ेंगी ।"[1]

मूसा ने भी उन रोटियों को लेकर खा लिया था क्योंकि अंदर से वह भी इस बात से सहमत था । स्कूल जाते समय दुर्गा की माँ के ताकीद करने पर कि वह दुर्गा की रोटियाँ न छुए, उसने कहा था...

"हाँ काकी, मैं सब समझता हूँ । मेरा धरम इसे न छूना है और इसका धरम हमारा छुआ न खाना है । मैं अपने धरम पर रहूँगा तो इसका भी धरम बिगड़ेगा ही कैसे ।"[2]

1-दलित जीवन की कहानियाँ-सं. गिरिराज शरण - पृ0- 145

2-दलित जीवन की कहानियाँ-सं. गिरिराज शरण - पृ0- 141

अपने इसी धरम के चलते मूसा उर्फ महेश दुर्गा ठाकुर से कहता है कि वह उस होटल में खाना खाने न आया करे क्योंकि ,उसी के शब्दों में"--"औरों के लिए मैं सिर्फ होटल का नौकर हूँ । इसके अलावा मेरे बारे में न वे कुछ जानते हैं और न जानना चाहते हैं । शायद अनजान रहना ही ठीक समझते हैं । मैं भी नहीं जानता कि कौन क्या है ? जान भी जाऊँगा तो भी मुझे ऐसा नहीं लगेगा कि मैं उन्हें खाना खिलाकर कोई गुनाह कर रहा हूँ । पर तुम्हारे सामने पता नहीं क्यों मेरे अंदर का डोम जाग जाता है और तुम्हें अपना छुआ न खिलाने का मेरा धरम मुझे जकड़ लेता है , धिक्कारने लगता है । नही जानता ,ऐसा क्यों होता है...मेरी लाचारी को समझने की कोशिश करो,ठाकुर ।"[1]

ठाकुर अपने उदार विचारों पर अड़ा रहता है और उसकी बात नहीं मानता।वह परिणामस्वरूप होटल छोड़कर चला जाता है ।

पहली दृष्टि में मूसा अपने विचारों के लिए स्वयं जिम्मेदार जान पड़ता है लेकिन वास्तव में सदियों के,ऊँचनीच और छुआछूत के,विचार उसकी त्रासदी के लिए जिम्मेदार हैं ।

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण - पृ0- 146

इसी प्रकार रघुनाथ प्यासा की कहानी "पन्ना धाय का दूसरा बेटा" एक ऐसे नौजवान की कहानी है जिसकी माँ जमींदार के यहाँ चाकरी करती है, जिसका एक भाई जमींदार के बेटे के हाथों शिकार में गोली लगने से मारा जा चुका है और जो स्वयं छोटे जमींदार को डूबने से बचाने में असफल होकर उसकी हत्या के अपराध मे जेल काट रहा है । उसकी माँ अपने सामंती संस्कारों के चलते उसे अपराधी मानती है । कथावाचक के शब्दों में...

"इतिहास में हमने सिर्फ पन्ना धाय और उसके शहीद बेटे का नाम सुना है । कोई नहीं जानता कि उसका दूसरा बेटा भी था और वह यहाँ मेरे सामने बेड़ियों मे जकड़ा बैठा है । क्या यह इतिहास एक साजिश नही है, जिसने पन्ना धाय और इसके बेटे के बलिदान को अमर करने में भी राजाओं-जमींदारों का एक उद्देश्य पूरा किया । पन्ना धाय की आने वाली पीढ़ियाँ उसके महान बलिदान के नाम पर शोषित की गयी । क्या इसलिए वह इतिहास विकृत हो गया कि रजवाड़ों द्वारा पोषित इतिहासकारों द्वारा लिखा गया इतिहास है । काश, कोई इतिहासविद् पन्ना धाय के वर्ग का हुआ होता । तो शायद उस समय इतिहास का कुछ और ही रंग होता ।"[1]

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण पृ0- 103

§2§ दलितों के संघर्ष की कहानियाँ

हिन्सा एवं अहिन्सा के बीच विवाद बहुत पुराना है । भारत में यह बहस आजादी की लड़ाई से लेकर अब तक भी धीमी नही पड़ी । अपने अध्ययन की अवधि में हम दलितों की संघर्ष चेतना को उन दोनों राहों से फूटता हुआ पाते हैं । लेकिन एक अन्तर दृष्टव्य है । हिंसक संघर्ष का संकेत देने वाली कहानियाँ पराजय का सामना एक जुझारू तेवर से लैस भविष्य के प्रति आशा के साथ करती हैं जबकि अहिंसक संघर्ष अथवा परंपरागत तरीकों से अपनी हालत में बेहतरी के लिए की जाने वाली कोशिशों का अंत प्रायः परस्पर बिखराव और दिग्भ्रम में होता है । हालांकि दोनों तरफ इसके महत्वपूर्ण अपवाद भी मिलते हैं ।

2.§1§ अहिंसक संघर्ष की कहानियाँ

रामदरश मिश्र की कहानी "सर्पदंश"

यह कहानी भी उन्हीं अपवादों में से एक है । गोकुल का लड़का अनायास ही पड़ोसी गाँवों की तरफ नही चल पड़ा । इससे पिछली रात को गोकुल भी सोच रहा था कि——

"कल रात मैंने ठान लिया था कि मक्के की बालियाँ तोड़कर लाऊँगा। भूख से मरते परिवार का दरद देखा नहीं जाता। यह दुःख देखते-देखते जिंदगी से विराग हो गया है। और जब साँप ने काट लिया तो मैंने चैन की साँस ली- चलो,अच्छा हुआ।

लेकिन नहीं,मरना नहीं चाहिए। मैंने साँप काटने की बेहोशी में बचवा को लिपटकर रोते हुए देखा तो मेरे भीतर जीने की इच्छा जाग पड़ी और मैं साँप के जहर से लड़ने लगा। मैं जिऊँगा ,मैं अपने परिवार के लिए जिऊँगा। जिस खेत को मैंने पसीने से सींचा है,उसकी फसल काटूंगा। वह फसल मेरी है। मैं दूसरे गाँव के अपने भाइयों को जमा करूंगा। मैं अकेला नहीं हूँ।"[1]

इस कहानी में गाँव - गाँव में बनते हरिजन संगठनों की तरफ इशारा किया गया है जो आज के जुझारू दलित संगठनों की पूर्व पीठिका कहे जा सकते है। इस संगठन के द्वारा जो संघर्ष भविष्य में होगा उसका स्वरूप अभी तय नहीं है। मगर एक चीज साफ है कि भू-स्वामियों के सामने हिंसा - अहिंसा का कोई प्रश्न नहीं है।

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण - पृ0- 121

रामदरश मिश्र की कहानी "सर्प-दंश" में गोकुल नामक हलवाहे को मजदूरी में दिया खेत फसल उगने पर मालिक ग्राम प्रधान वापस ले लेता है । भूखे मरते परिवार को देख उससे नहीं रहा जाता और एक रात वह उसी खेत से मक्के की बालियाँ तोड़ने चल देता है जहाँ उसे साँप काट लेता है । किसी तरह जान बचने पर अगले ही दिन उसे प्रधान के यहाँ बुलाकर उस पर आरोप लगाया जाता है कि रात को वह चोरी करने खेत पर गया था । उसके कहने पर कि उसने बालियाँ तोड़ी थीं मगर चोरी नहीं की थी क्योंकि यह फसल उसी की थी । प्रधान उसे गाली देने और थप्पड मारने की कोशिश करता है । इसका प्रतिरोध करने पर उसके गुर्गे गोकुल की हत्या कर देते हैं । सर्प के काटने से तो वह बच निकला मगर इस सर्प-दंश का कोई इलाज नहीं था । प्रधान के लोग थाने पर यह रिपोर्ट लिखाने जा रहे थे कि गोकुल साँप काटने से मर गया । कहानी गोकुल के लड़के के दूसरे गाँव की तरफ जाने की सूचना के साथ समाप्त होती है," वह दूसरे गाँव की ओर भागा जा रहा था अपने जाति भाइयों को सूचना देने । उसे याद है कि उस दिन पड़ोसी गाँव का नेता आया था और उसके बपई से कह रहा था कि जीने के लिए हमें एक होकर साँपों से लड़ाई करनी होगी ।"[1]

1-गिरिराज शरण सम्पादित "दलित जीवन की कहानियाँ" पृ0-122

सामंती उत्पीडन से जूझने के लिए दलितों में धर्म-परिवर्तन की भी लम्बी परंपरा रही है । बौद्ध के अलावा इस्लाम और ईसाईयत ने भी ऐसे असंख्य दलितों को मानवीय गरिमा से युक्त जीवन दिया है । धर्म परिवर्तन के सहारे वर्ग-उत्पीड़न से जूझने की ऐसी ही कहानी है रमेश चन्द्र शाह की "आद्योध्या कांड" । इस कहानी में भव्वा नामक मेहतर अपने बेटे लाल किशन को ईसाई धर्म में दीक्षित करवा देता है । लोगों के सामने वह इस निर्णय से अपने को असहमत बताता है मगर एक बार बाबू साहब जब उसके बेटे को भ्रष्ट हुआ कहते है तो वह भड़क उठता है

"खबरदार लाला, जो मेरे बच्चे को कुछ भी कहा । ईसाई हो गया तो तमारा क्या लुट गया ? जिंदगी भर तमारा मैला ढोया फिर भी कल नही पड़ी । समजते क्या हो तम ? हरगीज नही ढोयेगा वो, कान खोल के सुन लो, भव्वा की औलाद है तो हरगीज नही ढोयेगा । मो भी नही देखेगा तमारा वो....रक्खे रहो धरम अपना"[1]......

इस कहानी में लेखक ने एक और बिन्दु को छुआ है जिसने आज अच्छे खासे साहित्यिक विवाद का रूप धारण कर लिया है । लाल किशन बाल्मीकि उर्फ फादर जकारिया जब अपने दोस्त कथावाचक रामू से

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण - पृ0- 116

बताता है कि वह भव्वा को बुलाने गया था लेकिन उन्होंने आने से ईंकार कर दिया तो स्वभावतः रामू पूछता है कि क्या वे उसके फैसले से इतने नाराज है कि उसके पास आना भी नहीं चाहते । फादर जकारिया जब बताते हैं कि वे उन्हीं की जिद से ईसाई बने तो उनका दोस्त इस पर आश्चर्य व्यक्त करता है——

इसके जवाब में फादर जकारिया कहते हैं "तुम नही जानते रामू ! तुम कैसे जानोगे ? ....गुप्तचर——वह भी एक अछूत की आत्मा के—— तुम कैसे हो सकते हो ?"

फादर जकारिया को अफसोस है कि वो लिखना नहीं जानते । वो अपने लेखक दोस्त से अपनी और भव्वा की कहानी लिखने का आग्रह करते है जिसके जवाब में वह कहता है——

"नहीं लालू नहीं.....तुम्हारी रामायण तो तुम्हीं लिख सकते हो । मुझसे तो नहीं होगा ।"

कथावाचक के इन शब्दों के साथ कहानी समाप्त होती है ——

"लालू ! तू अपनी रामायण कब लिखेगा ।"

स्पष्ट तौर पर लेखक की राय में दलितों की कथा का प्रामाणिक लेखन दलितों के द्वारा ही हो सकेगा ।

रमाकान्त की कहानी "बयान" में एक दलित युवती सिताबो के साथ बलात्कार की कोशिश के खिलाफ कानूनी लड़ाई का अंजाम दिखाया गया है । कुर्क अमीन साहब की माँ के मरन भोज से लौटते हुए दुलारू ने साफ देखा कि पगडन्डी से गुजरती लोटन की बिटिया को किसुन वैद के लड़के ने ईख के खेत में घसीट लिया और उसके ललकारने पर छोड़कर भाग गया । बस्ती के बड़े-बूढ़े तो इज्जत बच जाने पर ही संतोष की सांस ले रहे थे मगर आठ-दस नौजवानों ने थाने जाकर रपट कर दी । दस दिन बाद भी कोई कारवाई न होने पर गाँव की आपसी रंजिश के चलते इन लोगों का साथ दे रहे मातादीन मिसिर ने अखबार में खबर छपवा दिया । परिणाम स्वरूप चौदहवें दिन पुलिस आई और एकमात्र प्रत्यक्षदर्शी गवाह दुलारू का बयान लेने लगी । घटना के दिन के बारे में पहले ही सवाल पर वह कुर्क अमीन साहब के दावत की निरर्थक बातों को दोहराने लगता था और थानेदार को इस मामले को फर्जी साबित करने का अच्छा बहाना हाथ लगा सो उन्होंने भी उसे इसी बात में उलझाकर तहकीकात खत्म कर दी ।

इस कहानी का मर्म यह है कि दुलारू ने जीवन में शायद पहली ही बार वैसा खाना खाया हो इसलिए उसके लिए यह संभव

ही नहीं कि वह उसकी बातों को न दुहराए । अगर उसे समझाया जाता कि उसने सिताबो के साथ हुई घटना के ही बारे में बताना है तो वह शायद कुछ संयमित होता मगर यहाँ तो पूछने वाले ही चाहते थे कि वह मुद्दे पर न आने पाए ------

"थानेदार किरपा सिंह धीरज खोकर मेज पर हाथ पटकने लगे ।"अरे भाई, तू पाइन्ट पर बात कर,पाइन्ट पर, ई राम कहानी न बता । सिर्फ ई बता कि मामला किस दिन का है ।"

"बता तो रहा हूँ सरकार । उन्ही कुरूक अमीन साहब की महतारी का मरन भोज......।"

"फिर वही मरन भोज । मैं तुमसे यह पूछ रहा हूँ कि दिन कौन सा था । दिन तरीख कुछ याद है ?"

"सरकार ई नहीं मालुम । अंधियारा पाख का दूसरा दिन था । जजमान की ओर से नेवते का एलान करने सुकुधर दुबे आए थे, उन्होंने ही कहा था ।"

"अच्छा तो तुझे भी नेवता था ।"

"हाँ सरकार । पूरी पट्टी का नेवता । का मजाल जो एक भी टोला छूटा हो । ....

"अरे तू फिर पाइण्ट से बहकने लगा । आखिर तू कहना क्या चाहता है । सिर्फ यही न कि कुर्क अमीन साहब की माँ के मरन भोज में तू भी दावत खाने गया था । "

"हाँ सरकार । मुदा हमीं नही। हमारे तीनों बेटहना और अंजनू दद्दा भी ।......

इस बार थानेदार साहब के साथ पंडित मातादीन का चेहरा भी तमतमा उठा ।"

उपरोक्त वार्तालाप से स्पष्ट है कि दुलारू जब कभी सही मुद्दे पर आता भी है तो थानेदार उसे वापस दावत की बातों में उलझा देता है । प्रशासन तन्त्र निरपवाद रूप से जालिमों और अत्याचारियों के पक्ष में खड़ा होता है — इन कहानियों का सबक यही है ।

यही नहीं आपसी रंजिश या गाँव की राजनीति के चलते ऊँचे तबके के जो लोग गरीबों-दलितों के संघर्ष में सहयोग भी देते हैं उनकी और उत्पीड़ितों की संवेदना में जमीन आसमान का अंतर होता है । इस कहानी में यह नुक्ता भी अत्यन्त खूबसूरती के साथ आया है ।

थानेदार के जाने के बाद मातादीन मिसिर दुलारू पर अपना गुस्सा निकालने के लिए उसे एक चाँटा जड़ते हैं और कहते हैं कि

लड़की की आबरू की बात में वह बार-बार खाने को बीच में क्यों ला रहा था । खाना तो लोग रोज ही खाते है । दुलारू यह बात समझ ही नहीं पाता क्योंकि उसके लिए वह खाना जीवन का अविस्मरणीय अनुभव था और रोजमर्रा के अनुभवों से वह उसका कोई तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाता । कहानी का अंतिम पैराग्राफ दृष्टव्य है-----

"दुलारू हक्का-बक्का मिसिर जी को देखता रहा । उसे लगा अब वे ही झूठ बोल रहे हैं । सहसा वह ठठाकर हंस पड़ा । मिसिर जी इसे अपना अपमान समझकर उसे फिर झापड़ों से पीटने लगे । वह उनके झापड़ खाता रहा,पर उनकी बात पर विश्वास नहीं कर पा रहा था । हुंह, क्या ऐसा भी कभी हो सकता है कि लोग रोज खाना खाते है ! रोज तो सिर्फ भूख लगती है । लेकिन खाना....."[1]

1-दलित जीवन की कहानियाँ ,सं. गिरिराज शरण - पृ0- 111

अपने चरम पर हैं। "छिपे हुए हाथ" अपनी मेहनत मशक्कत से गुलामी की जंजीरों को काटने की कोशिश करने वाले स्वाभिमानी दलित नौजवान छंगुरी की कहानी है जिसकी कोशिशों का अंत गाँव के तहसीलदार जैसे प्रभावशाली और शातिर लोगों की साजिशों का शिकार होकर होता है।

छंगुरी बचपन में दलितों को बात-बेबात सजा देने वाले स्कूल के हेड पंडित का सिर फोड़ कर भाग जाता है। पढ़ाई-लिखाई छोड़कर वह शहर में मेहनत-मजदूरी करके कुछ पैसे कमाता है और गाँव आकर तहसीलदार से अपनी रेहन पर रखी जमीन छुड़ाने की पहल करता है। तहसीलदार साजिश कर के गाँव के बहुत से लोगों के बीच उसकी पत्नी और भाई के बीच अवैध संबंध की बात फैला देता है। इस दुष्प्रचार का शिकार छंगुरी अपने भाई जागेसर पर हमला करके उसे बुरी तरह घायल कर देता है और खुद पुलिस की गिरफ्त में चला जाता है। उसकी पत्नी दुखनी अकेली रोती रह जाती है।

छंगुर शहर से वापस आने पर बड़े लोगों के समारोहों में भोज के बाद फेंके गए पत्तल लूट कर खाने की प्रथा का विरोध करता है लेकिन उसके इन विचारों का उसकी बिरादरी में स्वागत नहीं होता

वह कहता है ----

"एक दिन भरपेट खाने से तुम्हारी भूख हमेशा के लिए नहीं मिट जाएगी । फिर क्या ज़रूरत है कि दूसरे के जूठे पत्तलों को चाटा जाये ।"

काका ने कहा था, "ये भूख कभी मिटने वाली नहीं है । जो पेट आज तक नहीं भर सका, वह सराध का भोज खाकर नहीं भरेगा, लेकिन सामाजिक परंपरा के अनुसार हम लोगों को जूठी पत्तलों को लूटना है और तुम्हें मना करने का कोई अधिकार नहीं है ।"[1]

कथावाचक छंगुरी का दोस्त है और उसकी बातों का समर्थन करता है । इस बात पर उसे जाति-बहिष्कृत कर दिया जाता है । उसके काका अपने टोले के सरगना थे और दारू-ताड़ी पीने वालों का हुक्का-पानी बंद कर देते थे । उनका धंधा मरे हुए पशुओं की खाल उतारकर बाजार के चमड़ा गोदाम में बेचना था । एक बार पशुओं की बीमारी फैलने पर यह अफवाह उड़ गई कि उन्होंने ही अपने फायदे के लिए यह बीमारी फैलाई है । परिणामस्वरूप उनकी जमकर पिटाई हुई । इस घटना से उनका दिल टूट गया और उन्होंने अपना काम छोड़ कर बाजार में दुकान

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण - पृ०- 150

पर नौकरी कर ली । अब वे नशे में धुत्त होकर अनाप-शनाप बकते हुए गलियों में घूमते । किसी के छेड़ने पर खिसियाकर कहते,"इस धरती पर उन लोगों की हुकूमत है । हम सारे अपाहिज नशाखोरी के लिए ही तो पैदा हुए हैं । नशा नहीं करोगे तो तुम्हें याद रहेगा कि तुम्हारे सभी अंग साबूत है । तुम लुंज नहीं हो । उसे भुलाना हो तो नशे में डूबे रहो । भुला देने में ही फ़ायदा है । नहीं तो तुम्हारा अस्तित्व मिट जायेगा ।"[1]

यथास्थितिवादियों ने यह भ्रम फैलाया है कि दलितों की बदतर हालत की वजह उनकी अपनी कमजोरियाँ हैं और अगर वे उनसे उबरने का प्रयास करें तो उनकी कायापलट हो सकती है । यह कहानी ऐसे भ्रमों पर कुठाराघात करती है । कोई इक्का दुक्का भले ही कामयाब होता हुआ दिखे मगर एक वर्ग के रूप में इस व्यवस्था में प्रचलित मानदंडों को मानते हुए दलितों का इसके शिकंजों से निकल पाना संभव नहीं ।

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण - पृ0- 150

2§ii§ हिंसक संघर्ष की कहानियाँ

मार्क्सवादी विचारधारा और नक्सलवादी विद्रोह के असर में इस दौर में हिंसक संघर्ष का संदेश देने वाली बहुत सी कहानियाँ लिखी गई ।

बलराम की कहानी "कामरेड कल्ला का सपना" के नायक कामरेड कल्ला पाँचवी पास, एक बधुआ मजदूर के बेटे हैं जिन्हें इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम0 ए0 करने के बाद सामाजिक क्रान्ति का लक्ष्य लेकर अपने गाँव लौटे कामरेड धन्ना ने क्रान्तिकारी आंदोलन में दीक्षित किया है । इमरजेन्सी के दौरान गाँव के कुछ दलितों को पट्टे पर जमीन मिली थी जिसपर सवर्णों का कब्जा तोड़कर वे इन जमीनों से फसल काट लाते है । बदले में गाँव के दबंग हमला करके उन्हें और कामरेड धन्ना को घायल कर देते है जिससे आगे चलकर कामरेड कल्ला की मृत्यु हो जाती है । उनकी मौत के बाद उनकी बेटी जुलूस के आगे-आगे झंडा लेकर चलती है ।

कामरेड कल्ला को इस बात का पता था कि गरीबों भूमिहीनों की लड़ाई लड़ने वालों को इन हमलों का शिकार होना होगा

इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे उनके पूरी तरह कानूनी हक को दिलाने के लिए ही संघर्ष कर रहे हैं । उन्होंने अपनी डायरी में लिखा था ---

"जिस तरह की स्थितियां बनती जा रही हैं, उनमें अब शायद मैं मार दिया जाऊँ ,पर मेरा विश्वास है कि इस तरह की मौतें बेकार नहीं जातीं । मेरी मौत भी बेकार नहीं जायेगी । उनसे क्षेत्र के भूमिहीन मजदूरों और गरीबों के कलेजों में चुभन होगी, वे आपस में संगठित होंगे और फिर एक दिन वह भी आयेगा ,जब सड़े हुए लोकतन्त्र के ये अंग खत्म होंगे और एक नयी व्यवस्था में हमारा सपना साकार होगा ।" [1]

यह सपना कोरा सपना ही नहीं है। इसका अहसास कथावाचक को तब होता है जब वह कस्बे के मोची धरमू चाचा से पूछता है कि हजारों की तादाद में आक्रोशित लोगों के इकट्ठा होने पर भी दो चार दबंगों को मारकर कामरेड कल्ला की हत्या का बदला क्यों नहीं लिया गया ।

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण , पृ०- 7।

वे जवाब देते हैं———

"पार्टी के आदेश के बगैर हम कुछ नहीं कर सकते । और फिर अभी देशभर के गरीब हरिजन और मजदूर संगठित नहीं हैं । सरकारी अमला भी सवर्ण भू-स्वामियों का ही पक्ष लेता है । ऐसी हालत में बदले की बात सोचना अपने हाथ आग में डालने जैसा होगा । अभी तो हम संगठित हो रहे हैं । देश के गरीब हरिजन और मजदूर एक बार सही चेतना से लैस होकर संगठित हो गये तो फिर लड़ाई जीतने में वक्त नही लगेगा ।"

इस पर कथावाचक की टिप्पणी है——

"कस्बे के सड़क पर चमड़ा छीलते धरमू चाचा जैसे मोची से यह सब सुनकर विश्वास नहीं हुआ कि नगरों और महानगरों में काफी हाउसों में गूंजने वाली ये बातें अब यहाँ तक भी पहुँच चुकी हैं

कामरेड कल्ला की मौत के बावजूद उनके साथी उनका सपना पूरा करने के लिए लड़ रहे है । कथावाचक के शब्दों में ——

"कल तक जो काम कामरेड कल्ला संभाले हुए थे, आज उसे कामरेड रघुनन्दन ने संभाल लिया था । रघुनन्दन के अलावा गाँव के आठ-

---

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण - पृ0- 72

दस और लोग भी जुलूस में शामिल थे । तभी हमारी नजर जुलूस में सबसे आगे झंडा लिये चल रही युवती पर ठहर गयी । वह युवती कोई और नहीं कामरेड कल्ला की बेटी चंद्रावती थी । पिता की हत्या की मातमी मुद्रा से पूर्णतः मुक्त, किसी सैनिक सी तनी हुई ।"[1]

जगदीश दीक्षित की कहानी "सड़क" में सरकारी नियम कानूनों की विसंगति से उत्पन्न त्रासदी का चित्रण है । जमीन को जोतने-बोने वाला खेत का मालिक होगा, यह खबर अखबार में छपते ही चमराने में खुशी की लहर दौड़ जाती है । तहसील पर अर्जी वगैरह देने के बाद उन्हें दिखावटी कानून का मतलब समझ में आता है । अब चमराने के लोगों में घबराहट फैल जाती है कि अगर ठाकुरों ने बटाई पर दिए हुए खेत वापस ले लिए तो वे बेमौत मारे जाएंगे । फसल पक कर तैयार है। अपने नेता चेतू की अगुवाई में वे ठाकुरों से माफी माँगने सरपंच हरदेव सिंह के यहाँ जाते हैं मगर वहाँ हरदेव की अनुपस्थिति में ठाकुरों के छोकरे उन्हे डाँट-डपटकर भगा देते हैं । मौके का फायदा उठाकर पण्डितों का गुट उन्हें अपनी तरफ मिलाने की कोशिश करता

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण - पृ0- 80

हैं । पण्डितों के नेता वृन्दावन पाठक पंचायत के चुनाव में ठाकुरों के प्रतिद्वन्द्वी हैं । ठाकुर हरदेव सिंह ने अपने बेटे के नाम सड़क बनवाने का ठेका दिलवा दिया है और सस्ते मजदूरों के लालच में वे चमराने जाकर दलितों को अपनी तरफ लाते है । फिर वे उनकी उपज वाले खलिहान में आग लगवा कर एक तरफ उन्हें अपनी मजदूरी पर मजबूर कर देते हैं वहीं दूसरी तरफ वृन्दावन पाठक के खिलाफ नामजद एफ0 आई0 आर0 करवा देते हैं । लेकिन उनका खास आदमी इसी बीच टूट जाता है और अग्निकांड की पोल खोल देता है । सब कुछ जान लेने के बाद चमराने के लोग चैतू के नेतृत्व में जाकर सड़क खोद डालते हैं ।

यह कहानी गाँव की राजनीति में दलितों को अपने पक्ष में इस्तेमाल करने के लिए सवर्णों की बारीक चालों और करतबों से भरी हुई है । दलित लोग आम तौर पर भोले-भाले हैं लेकिन उनकी बुनियादी समझदारी कि——ठाकुर हरदेव सिंह सांपनाथ हैं तो पण्डित वृन्दावन पाठक नागनाथ है, सही है ।

ठाकुर हरदेव सिंह जब दलितों को मनाने के लिए चमराने जाते हैं उस समय का वर्णन दृष्टव्य है——

"चमराने में लोग गद्‌गद हो गये थे । सरपंच हरदेव सिंह खुद चलकर उनके पास आये थे तथा ठीक उसी तरह जिस तरह एक पिता अपने बच्चे की गलती माफ कर देता है......उसी तरह उन्होंने सबको माफ कर दिया था ।

इस देवता के प्रति लोगों की आँखों में श्रद्धा उमड़ी पड़ रही थी । चेतू तो निहाल हो गया था । उसने झुककर ठाकुर साहब के पाँव छुए तो उन्होने उसे अपनी छाती से लिपटा लिया । पण्डित वृन्दावन इस बार फिर मात खा गये ।"[1]

खलिहान में आग लगवा देने के बाद भी ठाकुर साहब का मसीहाई अन्दाज बरकरार है........

ठाकुर साहब ने भी उन लोगों को विश्वास दिला दिया था कि वे उन्हें भूखों नही मरने देंगे । सड़क का काम शुरू हो रहा है । कल से ही सारे लोग काम पर पहुँच जायें । एक बार फिर सारे लोग ठाकुर की दया से गद्‌गद हो उठे थे ।

अन्ततः जब ठाकुर की साजिश का रहस्य खुलता है और

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण , पृ0-48

चेटू अपने साथियों के साथ सड़क खोदना शुरू कर देता है तो हरदेव सिंह के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगती है और पहले तो वृन्दावन पाठक खुश होते हैं कि अब सरपंची के परंपरागत विवाद में चमारों के वोट उन्हें मिल जाएंगे मगर दलित तबके की जुझारू एकजुटता और आक्रोश की धमक सुनकर उनकी भी खुशी काफूर हो जाती है । उन्हें पता है कि अपनी स्वतन्त्र ताकत आजमा लेने के बाद दलितों का पहले की तरह इस्तेमाल करना संभव नहीं रहेगा ।...

"ठाकुर हरदेव सिंह के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही हैं । वृन्दावन पाठक के ठहाके में सरपंची का पुट है मगर टूटती हुई सड़क की आवाज से दोनों ही सहम जाते हैं ।"[1]

छल-बल-छल से दलितों की बहू-बेटियों की इज्जत से खेलना दबंगों का प्रिय शगल रहा है । इसी सच्चाई को मार्मिक ढंग से उकेरने वाली कहानी है आलमशाह खान की "एक और सीता" । इसमें दलित युवती सितिया का पति रमुआ ठाकुर की योजना के तहत ही उससे शादी करता है और पहली रात से ही उसे ठाकुर के हवाले कर देता है ।

1-दलि जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण - पृ0- 5।

रात के अँधेरे में सितिया के अनजाने ठाकुर अपनी हवस पूरी करता है और चला जाता है । पता चलने पर सितिया से कहता है कि प्रेम के चलते उसने ऐसा किया और वे दोनों पिछले जन्म के पृथ्वीराज - संयोगिता हैं । लेकिन रमुआ बताता है कि उन दोनों में करार हुआ था कि संतान रमुआ ही पैदा करेगा, ठाकुर नहीं ।

सितिया को रमुआ से एक बेटा पैदा होता है । 12 साल बाद विधवा होने पर वह ठाकुर को मना कर देती है जिस पर ठाकुर उससे जबरदस्ती करना चाहता है । वह गड़ाँसा उठाकर धरती पर एक रेखा खींच देती है । इसी के साथ कहानी का अन्त हो जाता है ।

इस कहानी की खूबी है इसके दलित पात्रों के अंतर्द्वन्द्व का चित्रण । रमुआ इस खेल में ठाकुर का साथ देता है मगर दिल में इसकी यातना भी भुगतता है । उसकी स्वेच्छा के पीछे भी गहरी मजबूरी है-दलित होने की मजबूरी । सितिया के सामने जब रहस्य का पर्दाफाश होता है उस समय का चित्रण दृष्टव्य है -----

"सीती को आज कुछ बदला-बदला लगा । देह पर देह का दबाव थोड़ा - थोड़ा और हलका जानकर उसने पलकें उघाड़ीं । अँधेरा पर तोलकर खड़ा था ," लो आज मैं ही लाज तोड़ूँ...उजियारे

में बतियाते हो.....अँधेरे में बोल भूल जाते हैं ? रमिया हंसने को हुआ कि उसके गले में खिली बेल के पात झूल गये । एकायक ही उसकी आँख झरने लगी.. इतनी कि सीती के पलक भीग गये ।

"काहे.....काहे," आँसू का रेला तोड़ अपने को परे करते हुए वह बोला," आज हम है ।' सुनकर उसकी समझ डोल गयी । फुंकारती हुई बोली," तो आज तक कौन रहा हमारे आँचल में ?

"ठाकुर ......मालिक......" और वह फूट-फूटकर रोने लगा । "अब जो तू चाहे दोस धर । यह पाप तो माथे चढ़ा लिया... पाऊँ ओढ़ा और तुझे नरक में झोंक दिया ।

वह कांप रही थी । अँधेरे में जाने कैसे उसका हाथ सिरहाने धरे हंसिये पर जा पड़ा । छवान से रिसती चाँदनी की मैली धार हंसिए की धार से आ मिली ।"[1]

मधुकर गंगाधर की कहानी "उठे हुए हाथ" दलितों में आ रहे जागरण और दबंगों और पुलिस द्वारा उसको कुचलने की कोशिशों की कथा है । किसनपुर के जित्तन रविदास की बेटी बसती के साथ भू-स्वामी राधो महतो ने मजदूरी के बहाने घर बुलाकर बलात्कार किया ।

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण, पृ0-26

सन् तिहत्तर में हुई इस घटना के बाद बंसती शहर चली गई और वहाँ उसने महतो के अवैध पुत्र को जन्म दिया और यह सौगंध खाई कि वह महतो की हत्या करके इसी लड़के के हाथों उसका दाह संस्कार कराएगी । इसके बाद गाँव लौटकर उसने सामाजिक परिवर्तन से जुड़े कुछ और लोगों के साथ मजदूरी के सवाल पर संघर्ष शुरू किया । जल्दी ही आस-पास के दलित खेतिहर मजदूर तबके के लोग संगठित होने लगे । राधो महतो ने उसे घर बुलाकर कैद करने और मारने-पीटने की कोशिश की मगर उसके साथियों ने हमला करके राधो महतो के तीन लोगों की हत्या करके बंसती को वहाँ से छुड़ा लिया । इलाका अधिक से अधिक जुझारू होने लगा । बसंती ने लोगों को बम बनाने और दूसरे हथियारों का भी प्रशिक्षण देना शुरू कर दिया ।

अन्ततः इंस्पेक्टर रत्नेश्वर प्रसाद ने मुखबिर की सूचना के आधार पर गाँव को भारी पुलिस बल के साथ घेर लिया। सैकड़ों की तादाद में जनता ने भी उनका सामना किया । बसंती स्वयं भी उनके साथ लड़ते हुए शहीद हुई । बसंती के मरने के बाद उसके सात वर्षीय बेटे को उसके साथी उसकी कहानी सुनाते हैं । उसे अपनी माँ के खून से सना एक सिक्का मिलता है जिसे वह उसके साथियों को देने से मना कर देता है और इससे बन्दूक खरीदने की बात करता है ।

इस कहानी में दलितों के अन्दर उत्पीड़न की वजह से आई हताशा और संगठन से उपजी संघर्ष-चेतना दोनों का सुन्दर चित्रण हुआ है । बसंती के साथ बलात्कार होने के बाद की स्थिति दृष्टव्य है---

"बसंती के शरीर और वस्त्र अस्त-व्यस्त थे । वह रोती हुई अपने घर आयी । घर में बूढ़ा बाप था । उसने सारी बातें बाप को बतलायी । बाप रोने लगा । उसने बसंती से कहा कि बसंती चुप रह जाये, वर्ना उसी की इज्जत खराब होगी ।

और, दूसरे दिन बसंती गाँव में नहीं थी । वह भागकर पटना आ गयी । पटना के सदर अस्पताल में उसकी एक मौसी दाई का काम करती है, वहीं पहुँची । मौसी को उसने अपना किस्सा सुनाया । मौसी किस्सा सुनकर हंसने लगी ,"यह कौन सी नयी बात हुई । तू जानती है, मैं क्यों गाँव से भागकर यहाँ आयी । मेरी एक बुआ थी । पूरे गाँव में जमींदारों और बड़े घरों के लड़के जैसे ही जवान होते थे, अकसा भाग से ट्रेनिंग लेने पहुँच जाते थे । बुआ को यह सब करना पड़ता था ।"[1]

यही लोग जब संगठित हो जाते हैं तब दल-बल सहित

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण,- पृ0- 85

गाँव में छापा डालने वाले इंस्पेक्टर के साथ वार्तालाप मे उनका मनोबल दिखायी पड़ता है ।----

'इंस्पेक्टर ने उलटकर पीछे देखा । पीछे भी लगभग दो-ढाई सौ आदमी थे । इंस्पेक्टर चारों ओर से घिर गया । उसने साहस नहीं खोया । उसने कड़कदार आवाज में कहा,"अगर तुम लोग आगे बढ़ोगे तो अच्छा नहीं होगा'

"अच्छा नहीं होगा तो क्या होगा ?"

"गोलियों से भून दिये जाओगे ।"

"हमारे पास गोलियाँ नहीं हैं । हम हुजूर को सलाह देते हैं, बीवी-बच्चों के पास लौट जाये, वर्ना ..... ।

"वर्ना क्या होगा ?"

"हुजूर को ऊपर से छह इंच छोटा कर दिया जायेगा ।"[1]

यह कहानी अत्यन्त सफलता के साथ दलितों की चेतना में आये बदलाव को चित्रित करती है । इस मायने मे यह साठोत्तरी कथा साहित्य की उपलब्धि है ।

"मार्कण्डेय प्रगतिशील कहानीकार हैं । उनकी कहानियों में शोषण के विरोध का स्वर प्रबल रूप से मुखरित हुआ है ।"[2] उनकी एक ऐसी ही-

---

1-दलित जीवन की कहानियाँ, सं. गिरिराज शरण, पृ०- 83

2-भैरू लाल गर्ग, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी मे सामाजिक परिवर्तन ,पृ०-14।

कहानी 'बीच के लोग" गाँवों में पाए जाने वाले ऐसे भले और व्यवहारकुशल लोगों की कहानी है जो अपनी परंपरागत सामाजिकता के चलते व्यापक प्रभाव रखते हैं मगर अपने इसी प्रभाव की बदौलत, जहाँ भी उत्पीड़क-उत्पीड़ितों के बीच संघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, वे बीच में दीवाल की तरह आकर खड़े हो जाते हैं और यथास्थिति की रक्षा कर लेते हैं। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में नुकसान उसी तबके का होता है जो अपनी किस्मत को बदलने के लिए संघर्षरत है। हालाँकि ऐसा किसी साजिश के चलते वे लोग नहीं करते बल्कि अपनी पुरानी मान्यताओं से बाध्य होकर करते हैं।

कहानी में बुझावन नामक दलित पात्र आठ वर्षों से ठाकुर हरदयाल की बीस बिस्वा टाड़ जोत,बो रहा था। अपनी मेहनत से उसने इस साल आलू की अच्छी फसल लगाई थी। दलितों के बीच उसका मान-सम्मान था और गाँव के सर्वमान्य बुजुर्ग फउदी दादा के वह परिवार के सदस्य जैसा था। उसका बेटा मनरा शहर में पढ़ता है और वहाँ लाल झंडा पार्टी का सदस्य बन गया है। इस पार्टी की एक मीटिंग वह अपने घर में भी कराता है। एक दिन बुझावन को रघू सिंह से पता चलता है कि ठाकुर हरदयाल ने वह जमीन महाजन के नाम लिखने का फैसला कर लिया है। फउदी दादा की मर्जी केबिना ऐसा नहीं हो सकता। वह भागा-भागा उनके पास जाता है। रास्ते में सोचता है——

"कहीं यह फउदी दादा मेरे जरिये सारे गरीब कमकरों को चूस तो नहीं रहा है । चारों ओर यही हल्ला है कि परानपुर में ऊँच-नीच सब मिलकर किसी बात का फैसला कर लेते हैं । आपस में कोई मतभेद नहीं और इसी कारण इस जवार में फउदी सा सरदार दूसरा नहीं ।"

फउदी दादा के दरवाजे पहुँचने पर वहाँ उपस्थित लोगों ने लाल झंडा पार्टी की मीटिंग को लेकर तीखी व्यंग्योक्तियों से उसका स्वागत किया । हालांकि फउदी दादा उसका समर्थन कर रहे थे । बोले--"इसमें क्या बात है, भाई ,सभा - सोसाइटी के लिए सबको आजादी है । जब लाल झंडा पाल्टी का कोई कार्यकर्ता बुझावन के दुवारे आय गया तो.....।"

"आय नही गया,ले आया गया । मनरा बाकायदा लाल झंडा पाल्टी का मिम्बर है । तुम कहाँ हो फउदी दादा ।"

"तो इसमें कौन बुराई है, भाई ,जो तुम इतना गिड़पिड़ाय रहे हो ।"[1]

लेकिन जमीन की बात आने पर दादा की राय कुछ और है— "ठाकुर की ही तो जमीन है,बुझावन । यह बात ठीक नही ।" फउदी दादा

1-मार्कण्डेय, "चुनी हुई कहानियाँ" ,पृ0-14।

जैसे न्यायालय की कुर्सी से बोले । "भाई जो बात लग आयी है ,उसे मत छेड़ो । अगर किसी का लेते हो तो मूल-सूद समेत दो । न देना हो तो कोई तुम्हें जबरदस्ती करजा-उआम तो देता नहीं । समाज चलेगा नहीं ।"[1]

बुझावन ने तो बचपन से यही सब सुना था । उसने यही देखा था कि लोग पीढ़ी दर पीढ़ी कर्ज चुकाते हैं । मूल पर मनमानी दर से सूद कभी खत्म नहीं होता । खुद फउदी दादा के यहाँ भी बचपन से ही एक मजूर इसी मूर-सूद के चक्कर में फँसा है । इस नियम के मुताबिक उसे भी ठाकुर की टाँड़ छोड़नी पड़ेगी । लेकिन उसका दिल इसे मानने को राजी नही होता ।

बुझावन के दुबारा अनुरोध करने पर फउदी दादा समझाते हैं-----"बात ई है बुझावन कि सहुआ वहाँ पंपिन - सिट लगा कर कोल्हू चक्की का व्यापार करना चाहता है । हरिदयाल को लम्बी रकम दे रहा है । हरिदयाल को तो जानते हो,महा लतेड़ मनई है । लालच तो है रुपये की ,. मुला बात कुछ की कुछ लिये, रात-दिन एक किये हुए है । कहता है बुझावन कब्जा कर लेगा मेरी भूँय पर ,फिर धीरे-धीरे सभी की जमीन छीनी जायेगी ।

1-मार्कण्डेय, चुनी हुई कहानियाँ, पृ0- 143

तुम्हारे घर में वह मिटिंग क्या हुई,लोगों ने मेरा मुँह ही बन्द कर दिया है

"मेरा भी मुँह लोग कितनी बार बन्द कर चुके हैं ,दादा। तुम तो सब कुछ जानते हो । देखा नही था पिछली बार सारे कोइरी-काछी एक हो गये थे । बस एक ही आवाज थी,—सभापती हमारा होगा । हम चुनाव लड़ेंगे । सिर्फ तुम्हारी बात पर मैंने लड़ाई मोल ली और गाँव बटने से बच गया । सोचो ऊ दिन । अउर का-का गिनाऊँ ,सदा जीने मरने को तइयार रहे हैं ।"

"यह तो सच है,झावन मुदा कुछ कायदा-कानून.....।"

"कायदा-कानून ... यह भी कहना पड़ेगा दादा । हम आठ बरस से जोतदार हैं । तीन बरस से तो खेत सिकमीलग जाता है ।"

"यह सब अधरम की राह है,झावन । हमारे दिल में तो यह समाता ही नहीं कि जो भूमि हमारी है,वह जब किराये पर है तो वह सिकमी कइसे लग जाएगी ।"

बहरहाल अभी इस बात का कुछ फैसला हो इसके पहले ही एक रात हरिदयाल और उसके लड़के पच्चीस-तीस का गोल बनाकर झावन के खेत से आलू खोद ले जाते हैं । झावन पुलिस के पास जाने का नाम लेता है

तो मनरा उस पर झपट पड़ता है------

"पुलिस तुम्हे न्याय देगी कि तुम्हारा गला काटेगी । अब भी ख्याल नही आया तो वह भी करके देख लो । उल्टे तुम्हीं को कानून खा जायेगा । वह अमीरों की रक्षा करने के लिए है, हमारे जैसे निहंगों के लिए नहीं ।"[1]

मनरा वर्ग सचेत मजदूरों का प्रतिनिधि है । वह पुलिस के अलावा फउदी दादा जैसे लोगों की वर्गीय भूमिका से बखूबी वाकिफ है । उसके साथ रग्घू सिंह जैसे ठाकुर भी हैं जो डेढ़ बीघे के किसान हैं और खुद ठाकुरों के सताए हुए है । यही नहीं खुद फउदी दादा के बेटे भी उसकी तरफ आ गए हैं ।

अगले दिन मनरा ने अपने लोगों को इकट्ठा करके अपने खेत में प्याज लगाने के लिए हल चलाना शुरू किया । उधर से हरिदयाल भी अपना गोल लेकर पहुँच गया । फउदी दादा को बहू से सूचना मिली कि उनका बेटा भी लड़ाई की जंग पर गया है । वे भागते-दौड़ते वहाँ पहुँचे । वहाँ नजारा यह था कि हरिदयाल अपने कुछ लोगों के साथ बन्दूक लेकर खड़ा मनरा को हल

1-मार्कण्डेय, चुनी हुई कहानियाँ , पृ0- 48

रोक देने के लिए कह रहा था इधर मनरा के साथ सैकड़ों लोग थे जिनमें उनका बचवा भी था । बचवा हरदयाल को ललकार रहा था कि वह बन्दूक चलाकर देख ले मुश्किल से एक दो मरेंगे लेकिन वह सपरिवार खत्म हो जाएगा । फउदी दादा किसी तरह से हरदयाल और बचवा को चुप कराते हैं, फिर बुझावन और उसकी औरत को मनरा के हल के आगे लेट जाने को कहते हैं । वे ऐसा ही करते हैं । हल रुक जाता है । अन्तिम वार्तालाप दृष्टव्य है---

"हम लोग चलते हैं, अब से मोर्चे पर कभी नहीं आयेंगे, शरीर बहुत थक गया है, दादा ने कहा ।"

"जरूरत तो ऐसी ही है । अच्छा हो कि दुनिया को जस-की तस बनाये रहने वाले लोग अगर हमारा साथ नहीं दे सकते तो बीच से हट जाएं, नहीं तो सबसे पहले उन्हीं को हटाना होगा, क्योंकि जिस बदलाव के लिए हम रुग रोपे हुए हैं, वे उसी को रोके रहना चाहते है ।" मनरा बोला.[1]

गाँवों में दलितों के बीच विकसित हो रही वर्गीय चेतना को अत्यन्त कलात्मक तरीके से अभिव्यक्त करने वाली यह अद्भुत कहानी है । पुराने जमाने के निर्दोष और भलेमानस लोग जहाँ कहीं भी प्रभावशाली स्थिति में है वे यथास्थिति का जाने-अनजाने समर्थन कर रहे है और सुविधा सम्पन्न

- -

1-मार्कण्डेय, चुनी हुई कहानियाँ, पृ0- 160

तबके के द्वारा इस्तेमाल किए जा रहे हैं । इनकी सारी समझ और न्याय-परकता की पोल वहाँ खुल जाती है जहाँ कोई व्यक्ति प्राचीन काल से चले आ रहे सामाजिक स्तरभेद को चुनौती देता है क्योंकि इनके अनुसार यह वर्गविभेद ही प्राकृतिक और एकमात्र न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था है । व्यक्तिगत स्तर पर छोटे-बड़े सबको एक आँख से देखने की इनकी प्रतिज्ञा की पोल तब खुल जाती है जब बात अपने पर आती है । फउदी दादा ने हरिदयाल से तो वादा कर लिया था कि वे इस झगड़े में अपना दरवाजा छोड़कर कहीं नहीं जाएँगे मगर अपने बेटे के वहाँ जाने पर वे भी पीछे-पीछे पहुँच गए । हर दुख-सुख के साथी झावन के पक्ष में वे नही खड़े होंगे हालाँकि सही पक्ष उसी का है ।

अध्याय-4

साठोत्तरी उपन्यासों में दलित चेतना

कहानियों की अपेक्षा हमारी शोधावधि में उपन्यासों की स्थिति सशक्त है तो उसकी वजह ये नहीं है कि उस दौर में ढेर सारे उपन्यास एक साथ इस विषय को लेकर लिखे जा रहे थे । उस समय हिन्दी में फ्रायड, कामू, सार्त्र और युंग जैसे विचारकों का बोलबाला था और आम तौर पर शहरी मध्यवर्ग के व्यक्तिमन की कुंठा, निराशा और संत्रास या कभी-कभी उसकी ताकत पर भी लेखन हो रहा था । लेकिन जैसा कि एक विचारक ने कहा है कि, "ऐसा आदमी जो पूरी तरह अपने निजी अस्तित्व में, अपने आधारभूत आत्म निर्वाचन में डूबा रहता है, हमेशा ही प्रतिक्रियावादी विचारधारा के प्रभाव में होता है ।"[1] इस धारा के साथ भी ऐसा ही था । लेकिन इसके साथ ही साथ एक सुनिश्चित प्रवृत्ति कथा लेखन में प्रकट हो रही थी जिसने महानगरीय समस्याओं की जगह गाँवों के भयावह और अमानुषिक यथार्थ का चित्रण करना अपना कर्तव्य समझा । संख्या में कम होते हुए भी इन उत्कृष्ट कृतियों ने समकालीन साहित्यिक जगत में अपनी छाप छोड़ी और साहित्य की धारा को भी शहरों से गाँवों की तरफ मोड़ दिया ।

1-मिखाइल लिफ्शित्ज, मार्क्सवाद और साहित्य , पृ0- 7

इन्हीं कोशिशों के परिणाम स्वरूप सन् 80 के बाद ग्रामीण जीवन की स्थितियों पर कथा लेखन की बाढ़ आ गई जिनमें दलितों का संघर्षधर्मी स्वर प्रमुखता से उभरा । अस्सी से पहले दलितों के जीवन को औपन्यासिक फलक पर पेश करने वाली एक लेखिका मन्नू भंडारी कहती हैं

"अपने व्यक्तिगत दुख-दर्द,अन्तर्द्वन्द या आन्तरिक "नाटक" को देखना बहुत महत्वपूर्ण ,सुखद और आश्वास्तिदायक तो मुझे भी लगता है । मगर जब घर में आग लगी हो तो सिर्फ अपने अंतर्जगत में बने रहना या इसी का प्रकाशन करना क्या खुद ही अप्रासंगिक ,हास्यास्पद और किसी हद तक अश्लील नहीं लगने लगता ?"[1]

मन्नू भंडारी का यह प्रश्न साहित्य के इतिहास में नया नहीं है । अनेक साहित्यकारों ने यह प्रश्न पूछा है और उसका उत्तर तलाश करने की कोशिश की है । सबसे अन्तिम प्रश्न जो आज उपन्यासकार को मथता है,वह समाज से संबंध रखता है । क्या कोई उपन्यासकार इस दुनिया की समस्याओं से,जिसमें कि वह रहता है,बेखबर रह सकता है ?"[2]

- -

1-मन्नू भंडारी, "महाभोज" की भूमिका से

2-रैल्फ फाक्स, "उपन्यास और लोकजीवन ,पृ०15

बने ही क्यों जब उसे उस संघर्ष में या उस समाज में जरा भी रूचि नहीं है ? उसे इस संघर्ष से संबंधित हर चीज से बुरी तरह ऊब होगी ।[1]

इन सवालों का जवाब देने की चेष्टा भी अनेक लेखकों ने की है - "वस्तुत: किसी भी लेखक की रचनात्मक क्षमता का वास्तविक मूल्यांकन शायद उसके समकालीन जीवन §जिसमें वह जीता है§ की वास्तविकताओं के संदर्भ में ही आंका जाता है ।"[2]

नामवर सिंह के अनुसार, "वस्तुत: मौलिक प्रश्न सृजनात्मक दृष्टि का है जो अपने युग के मर्म को बेधने के साथ अपने युग की मनोगत और वस्तुगत सीमाओं का अतिक्रमण कर सकने में समर्थ होती है ।"[3]

इस अवधि में दलित जीवन का बहुविध चित्रण करने वाले चार उपन्यास प्रकाशित हुए । जगदीशचन्द्र कृत "धरती धन न अपना", गोपाल उपाध्याय कृत "एक टुकड़ा इतिहास" ,अमृतलाल नागर कृत "नाच्यौ बहुत गोपाल" और मन्नू भंडारी कृत "महाभोज" ।

अपने पिछले अध्याय के वर्गीकरण के मुताबिक ही हम इन चारों उपन्यासों को अध्ययन करेंगे ।

-=-

1-उयार्जी प्लेखानोव, "कला और सामाजिक जीवन", पृ0- 58

2-मार्कण्डेय, "कहानी की बात", पृ0- 36

3-नामवर सिंह, " कहानी नयी कहानी" , पृ0-193

§1§ शोषण की चेतना

(i) "धरती धन न अपना" : शोषण का अप्रतिम दस्तावेज

प्रख्यात उपन्यासकार जगदीश चन्द्र का उपन्यास "धरती धन न अपना" दलित चेतना का अत्यन्त मार्मिक दस्तावेज है । आज गैर दलितों द्वारा दलित जीवन के चित्रण की प्रामाणिकता पर संदेह करने वालों के लिए यह उपन्यास एक सबक है कि कैसे एक बड़ा कलाकार अपनी कलाकृति के माध्यम से जाति-धर्म-क्षेत्र आदि की दीवार को लांघ जाता है और अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि से बहुत आगे निकलकर मानवीय नियति के प्रश्नों से साक्षात्कार करता है । इस उपन्यास की भूमिका में लेखक कहता है---

"मैं हर साल यही देखता कि गाँव में मर्यादाओं की सीमाएँ टूटनी तो दूर रहीं, उनकी जकड़न दिनोंदिन सख्त होती जा रही है । अर्थशास्त्र का छात्र होने के कारण मुझे उस सामाजिक दुर्व्यवस्था के पीछे छिपे आर्थिक कारणों का भी पता चलने लगा । मैं यह सब देखकर बहुत ही उद्विग्न होता था कि आर्थिक अभावों की चक्की में युग-युगान्तरों से पिस रहे हरिजन अब भी मध्यकालीन यातनाओं को भोग रहे हैं । जिस भूमि पर वे रहते हैं, जिस जमीन को वे जोतते हैं, यहाँ तक कि जिन छप्परों में वे रहते

है ,कुछ भी उनका नहीं है । इन्हीं बातों को देखकर मेरे किशोर मन की वेदना सहसा अपने सभी बाँध तोड़कर फूट निकली और मैंने उपेक्षित हरिजनों के जीवन का चित्रण करने का संकल्प कर लिया । प्रस्तुत उपन्यास लिखने का मूल प्रेरणा बिन्दु यही है ।

अपने जातिगत संस्कारों तथा सामाजिक मान्यताओं की कठोर जकड़न के कारण मै हरिजनों के जीवन की कटुताओं को स्वयं तो नही भोग सका । फिर भी मुझे अपने दुस्साहस के कारण उनके जीवन को बहुत निकट से देखने का अवसर अवश्य मिला है । मैंने सर्वथा निरपेक्ष रहकर भारतीय जीवन के इन कटे हुए संदर्भों का चित्रण किया है और कहीं भी अपना मत अथवा अपनी विचारधारा को लादने की चेष्टा नहीं की है ।"[1]

"धरती धन न अपना" दलित नौजवान काली की कथा है जो छः वर्ष बाद शहर से लौटा है । उसके माँ-बाप पहले ही मर चुके हैं । घर में सिर्फ उसकी बुढिया चाची प्रतापी है । उपन्यास उसके गाँव पहुँचने से शुरू होता है । गाँव में वह पुराना मिट्टी का घर गिराकर पक्की ईंटों का

1-जगदीश चन्द्र ,"धरती धन न अपना" , पृ0- 8

घर बनाने की कोशिश करता है ताकि चाची को सुख हो सके लेकिन चाची बीच में ही गुजर जाती है । शहर से कमाकर लाए हुए रूपये कुछ मकान में, कुछ चाची के अंतिम संस्कार में खर्च होते हैं और बाकी बचे हुए चोरी हो जाते हैं । गाँव में कदम-कदम पर जाट चौधरियों के हाथों अपमान के कड़वे घूँट पीते चमार जाति के दूसरे लोगों की तरह काली चुप नही रह पाता इसलिए शुरू से ही चौधरियों की निगाह में चढ़ जाता है । मजदूरी के सवाल पर एक बार गाँव के सब चमार चौधरियों के सामने खड़े भी होते हैं तो चौधरियों द्वारा पूर्ण बहिष्कार कर दिए जाने पर टूट जाते हैं । काली हर संभव कोशिश करता है मगर उनकी और उनके भूख से तड़पते बच्चों के लिए कोई उपाय नहीं तलाश पाता । इसी बीच पड़ोस की एक हिम्मती और अल्हड़ युवती ज्ञानो से उसका प्रेम भी होता है मगर इससे पहले कि वे दोनों कहीं आश्रय तलाश पाते, ज्ञानो की माँ और उसका भाई ज्ञानो की हत्या कर देते हैं । उपन्यास का अन्त आते-आते काली के सामने वापस शहर चले जाने के अलावा दूसरा कोई चारा नही बचता ।

इस कथा में दलितों की त्रासद जीवन स्थितियों और उनसे निकलने की उनकी तड़प का हृदयस्पर्शी चित्रण किया गया है । उपन्यास के प्रारम्भ में ही काली जब गाँव में घुसता है और चमारों की

बस्ती चमादड़ी के निकट पहुँचता है तो उसका वर्णन निम्न शब्दों में किया गया है---

"थोड़ा और आगे जाने पर उसे जोर की ठोकर लगी और वह गिरते-गिरते बचा । गोबर की तेज बदबू ने उसे चमादड़ी ॥हरिजनों की बस्ती॥ के निकट ही होने का संकेत दिया । इस स्थान पर बड़ा रास्ता काफी गहरा हो गया था क्योंकि गाँव में बरसात का सारा पानी इसी रास्ते से चो में जाता था । कुछ क्षण के बाद ही वह चमादड़ी के बाहर कुएँ पर पहुँच गया । कुएँ के गिर्द गन्दे पानी और कीचड़ की छपड़ी बनी हुई थी । अनायास ही वह वहाँ रूक गया और सामने छोटे-छोटे कच्चे मकानों को देखने लगा । फिर वह कुएँ के गिर्द चक्कर काटकर उस स्थल पर पहुँच गया जहाँ से मुहल्ले की गली शुरू होती थी । वह गली के मुँह पर रूक गया और सामने गन्दे पानी की छपड़ी को पार करने की तरकीब सोचने लगा । फिर अपने आप ही उसका पाँव पानी मे डूबी हुई ईंटोंको टटोलने के लिए उठ गया और अगले क्षण ही वह उस छपड़ी को पार करके गली में घुस गया ।"[1]

काली अपने मकान को पक्की ईंटों का कराने की सलाह करने के लिए गाँव के महाजन और दुकानदार-छज्जूशाह के पास जाता है तो

वह उसे चाचा के नाम कर्ज का हिसाब पकड़ा कर जाने कब का इकतालिस रुपये ले लेता है और मकान बनाने में कोई कमी पड़ने पर बेहिचक आने को कहकर भरपूर सहयोगका आश्वासन देता है मगर जब काली उससे कर्ज लेने के लिए जाता है तो वह तरह-तरह की बहाने बाजियाँ करते हुए उससे गिरवी रखने के लिए किसी चीज की माँग करता है । पुराना कर्ज वसूलते समय की गई सारी मीठी बातों को भूलकर वह उससे जब कोई मुरौव्वत करने के लिए तैयार नहीं होता है तो काली उससे अपने मकान की जमीन ही गिरवी रख लेने को कहता है । ऐसा कहते हुए उसे बहुत दुःख होता है और उसे यूँ महसूस होता है जैसे वह पौधा लगाने के साथ उस जगह पर अमरबेल का बीज भी डाल रहा है । लेकिन छज्जूशाह का जवाब सुनकर तो उसके औसान ही काफूर हो जाते हैं । वह कहता है----

"कालीदास जिस जमीन की तुम बात कर रहे हो वह जमीन भी तुम्हारी नहीं है । वह शामलात§गाँव के जमींदारों की साँझी§ जमीन है । जब तक तू या तेरे वारिस इस गाँव में रहेंगे ,जमीन का वह टुकड़ा रिहायश के लिए तुम्हारा है । बाद में उसका मालिक गाँव होगा । वह तेरी मालकियती की जमीन नही है,मौरूसी जमीन है ।"[1]

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना" ,पृ0-55

चमादड़ी की महिलाएँ सावन आने पर सावन का गीत गाती हैं । इस सीधे-सादे लोकगीत की दो पंक्तियों में उनके जीवन की विडंबना व्यंजित होती है----

"सावन खीर ना खादिया
क्यों जम्मया अपराधिया
घर न होवे अपने
ते कित्थों खावाँ पापने ।"[1]

§सावन में खीर नही खायी तो अपराधी, तूने जन्म ही क्यों लिया । अपने घर में खीर नही हो तो पापी-बता, कहाँ से खाऊँ।§

काली को गाँव में कदम रखने के बाद से पग-पग पर अपमानित होना पड़ता है क्योंकि वह चमार है । गाँव के दूसरे लोग इस रवैये के बहुत हद तक अभ्यस्त हो गए हैं और चौधरियों और चमारों के बीच ऐसे ही रिश्ते को एकमात्र उचित और तर्कसंगत रिश्ता मानते है मगर काली लम्बे समय बाद गाँव लौटा है और इस सामाजिक अपमान की चुभन को तिल-तिल कर महसूस करता है । सिर्फ अपने को ही अपमान से चमार कहे जाने पर वह दु:खी नही होता है बल्कि चौधरी जब बात-बात पर अपने पिट्ठू मंगू

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना" ,पृ0-21।

को कुत्ता चमार कहकर झिड़कता है तो भी वह स्वयं को अपमानित महसूस करता है हालांकि मंगू उसके साथ हमेशा बहुत बदतमीजी से पेश आता है ।

गाँव आने के पहले ही दिन उसे चौधरियों का चमारों के प्रति रवैया देखने को मिला जबकि अपनी फसल चर लिए जाने की बात कहकर चौधरी हरनाम सिंह चमादड़ी में घुसकर सामूहिक रूप से चमारों की जूते से पिटाई कर रहा था । उपन्यासकार के शब्दों में ---

"चमादड़ी में ऐसी घटना कोई नई बात नही थी । ऐसा अक्सर होता रहता था । जब किसी चौधरी की फसल चोरी हो जाती, बरबाद कर दी जाती, चमार चौधरी के काम पर न जाता या फिर किसी चौधरी के अन्दर ज़मीन का मालकियत का एहसास जोर पकड़ लेता तो वह अपनी साख बनाने और चौधर मनवाने के लिए मुहल्ले में चला आता ।"[1]

चौधरी लोग चमारों के घर की लड़कियों, महिलाओं को हमेशा अपने घर की खेती समझते हैं । महिलाएँ अपने हालात से, अपमान का घूँट पीने को, मजबूर है । पुरूषों को सब कुछ जानकर भी अनजान बने रहना पड़ता है ।

एक दिन प्रीतो की बेटी लच्छो को धोखे से तबेले की कोठड़ी में गेंहू के सिट्टे (बालियाँ) लेने के बहाने भेज कर चौधरी हरनाम का

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना" ,पृ0-20

बेटा चौधरी हरदेव उसकी इज्जत लूट लेता है । इसके बाद जब वह अपनी झोली में सिट्ठे भरकर ले जाने को होती है तो घर में चौधरानी उससे सिट्ठे रखवा लेती है । घर लौटकर आटा गूँधती हुई वह सोचती है--
"माँ घर से आटा उधार माँगने गयी तो आटा ले आयी । अम्रू देगचा बेचकर आटा और गुड़ दोनों ले आया । लेकिन वह अपना सब कुछ लुटाकर भी खाली हाथ वापस आ गयी । "

जोर जबरदस्ती पर आधारित ऐसे रिश्तों को गाँव में किस कदर सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है यह एक अन्य घटना से पता चलता है । बूटासिंह जाट के लड़के पालो और जगते चमार के भाई बग्गे का आपस में झगड़ा हो जाता है और बग्गा पालो को पीट देता है । यह गाँव के इतिहास में अनहोनी घटना है । जाटों के गुस्से का पारावार नही है । चौधरी मुंशी की हवेली पर पंचायत जुड़ती है । वहाँ बग्गे को ही नही उसके पूरे घर भर को पीट-पीट कर मलीदा बना देने की तजवीज पेश की जाती है । इसी बीच चमादड़ी का एक बुजुर्ग फत्तू अपनी बात कहने के लिए खड़ा होता है । थोड़े विरोध के बाद उसे बोलने की इजाजत मिल जाती है । वह कहता है-----

"आप और हम इस गाँव में पुश्तों से रहते आये हैं ।

हम आपको अपना चौधरी समझते थे और आप हमें अपने चमार । हमारा काम आपकी सेवा और सहायता करना था और आपका काम हमारी पालना करना,हमारी हाजतें पूरी करना । हमारे दुःख-सुख में साझीदार होना । मेरी उम्र सत्तार से ऊपर है । हम सब इसी गाँव मे रहते आये हैं । पहले गाँव में चाहे चमार हो या चौधरी सबकी इज्जत साँझी होती थी । लड़ाई-झगड़ा तो दूर कोई चमार चौधरियों के सामने आँख उठाकर भी नहीं देखता था । जब आप लोगों ने हमारी इज्जत को अपनी इज्जत समझना छोड़ दिया,जब जाट और चमार का खून मिलने लगा तो यह गड़बड़ होने लगी । अगर आज आपके ही खून ने आपके बच्चे को मारा है तो आपको दुःख क्यों हुआ ।

बाबे फत्तू ने बग्गे की ओर संकेत करते हुए कहा,"इसे देखकर कोई कह सकता है कि यह चमार की औलाद है ।"[1]

बाबे फत्तू की बातें सुनकर चौधरियों की गर्दन झुक जाती है और वे एक-एक करके वहाँ से खिसकने लगते हैं । आसपास मकानों पर बैठी महिलाएँ मुँह बन्द करके हँसने लगती हैं ।

दलितों के जीवन में कदम - कदम पर बंधनों की

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना" , पृ0- 172

जकड़ है । सदियों के अपरिवर्तित जीवन-क्रम की जड़ता ने उन्हें भाग्यवादी और अंधविश्वासी बना दिया है । कहने को वे हिन्दू हैं लेकिन उन्हें न तो धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने की सुविधा है और न ही मन्दिरों में जाने की छूट । वे न अपने देवताओं को छू सकते है और न ही अपने हिन्दू भाइयों को। इस निराशा में वे प्राय: दूसरे समतापरक धर्मों की तरफ चले जाते हैं लेकिन भारतीय समाज की संरचना इतनी जड़ है कि इसमें इस्लाम और ईसाई धर्म अपनी तमाम रियायतों के बावजूद उन्हें इस घृणित रोग से मुक्ति नहीं दिला पाते । फिर भी दलितों के सामने धर्मांतरण एक प्रलोभन बनकर मौजूद रहता है । काली के गाँव में एक पादरी हैं जो चमादड़ी के लोगों को ईसाई बनने के लिए प्रेरित करते रहते है। काली की माँ की मृत्यु के बाद वे अभी हाल ही में चमार से ईसाई बने नंद सिंह का कोठा साफ करवा देते हैं ताकि काली के यहाँ शोक प्रकट करने आने वाले लोग वहाँ आकर बैठ सकें क्योंकि काली का घर गिरा हुआ है । नंदसिंह के पास बैठकर और उसकी बातें सुनकर काली के अन्दर भी इसके प्रति आकर्षण जाग उठता है ।

"नंदसिंह काली को अपने पास बैठा जूते सीता हुआ उसके साथ बातें करने लगा । उसकी बातें सुनकर काली की उदासी कुछ कम

होने लगी । उसके मन में बार - बार विचार आ रहा था कि नंदसिंह से उसके ईसाई बनने का कारण पूछे परन्तु उसे साहस नहीं हो रहा था । धीरे-धीरे नंदसिंह अपने मन की गाँठें स्वयं ही खोलने लगा । वह जूता एक ओर रखता हुआ बोला, "मुझे गाँव में रहना बिलकुल पसन्द नहीं है क्योंकि यहाँ गरीब आदमी की, खास तौर पर कम्मी-कमीन की कोई इज्जत नहीं है । गाँव में इज्जत से रहना हो तो आदमी को जमीन का मालिक होना चाहिए । यहाँ सिर्फ जमीन और जूते की इज्जत है । बाकी चीजों को कोई नहीं पूछता । .....गाँव में चमार होना तो सबसे बड़ा पाप है । घोर लाछन है । दो कौड़ी का मालिक काश्तकार अपने चमार को छठी का दूध पिला देता है ।... मुझे "चमार" शब्द से ही नफरत है । मुझे कोई चमार कहे तो गुस्सा आ जाता है...... ।"[1]

नंदसिंह अपनी इसी नफरत के चलते पहले रमदसिया सिख बना था, फिर ईसाई बना लेकिन उससे होना जाना कुछ नहीं था । गाँव के सामाजिक "हायरार्की" में वह जहाँ था, सबसे नीचे, वहीं बना रहा ।

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना", पृ0- 190

एक बार नंदसिंह काली के साथ बैठा बातें करते हुए उसे ईसाई बनने से होने वाले फायदे के बारे में बता रहा था------

"तुम जानते ही हो मेरा लड़का प्रकाश बहुत देर तक बेकार रहा । कहीं काम धन्धा नहीं मिलता था लेकिन जब हम ईसाई बन गये तो पादरी जी ने कहसुन कर उसे नौकरी भी दिला दी । अपनी बिरादरी बन जाये तो नौकरी-चाकरी और शादी ब्याह के सब बन्दोबस्त हो जाते हैं । सबसे बड़ा फायदा यह हुआ कि अब हम चमार नहीं रहे हैं ।" नंदसिंह ने काली को समझाया ।

वे बातों में मग्न थे कि एक सख्त आवाज ने उन्हें चौंका दिया । दुकान के द्वार पर चौधरी मुंशी खड़ा नंदसिंह को आवाजें दे रहा था । वह बाहर आया तो चौधरी मुंशी गाली देकर बोला, "चमारा तूने क्या भंग पी रखी है ? आवाजें दे-देकर मेरा गला बैठ गया है ।" फिर उसने सख्त स्वर में कहा, "ला मेरा जूता दे" ।

"अभी बना नहीं है ।" नंदसिंह ने कुछ रूखेपन से उत्तर दिया क्योंकि चौधरी मुंशी के मुँह से अपने लिए चमार का संबोधन सुनकर वह गुस्से में आ गया था

"क्या जूता बनाने में पूरा साल लगायेगा ? चमारा

काम किया कर, वरना भूखा मर जायेगा ।" चौधरी मुंशी ने उद्दण्ड लहजे में नसीहत की ।

"चौधरी जबान संभाल कर बात कर । मुझे बार -बार चमार मत कह ।" नंदसिंह भी गर्म हो गया ।

"तो क्या तुम्हे सरदार बहादुर कहूँ ? कुत्ता चमार, बात यूँ करता है जैसे गाँव का नम्बरदार हो ।" चौधरी मुंशी ने आँखें तरेर कर कहा ।

"जा चला जा । जब तक तू पहले पैसे नहीं देगा मैं तुम्हारा जूता नहीं बनाऊँगा ।" नंदसिंह निर्णयात्मक स्वर में बोला ।

यह सुन चौधरी मुंशी पहले तो चुप हो गया । फिर जोर-जोर से गालियाँ देने लगा, "कुत्तया चमारा तेरी यह मजाल ? अपनी दुकान पर मुझसे पैसे माँगता है । जूता बनाने से इन्कार करता है । मैं तेरी खाल उधेड़ दूगाँ । तू पागल तो पहले ही था, ईसाई बनकर सवाया हो गया है ।"

बीच बचाव करने पहुँचा चमादड़ी का ताया बसंता भी नंदसिंह का एतराज जानने के बाद उसका मजाक उड़ाता है--"वाह, वाह.. नंदसिंघा । तेरे सिर पर अभी सींग तो उगे नहीं...पागला, तो कुछ भी

बन जा लेकिन रहेगा ,चमार का चमार ही । जात कर्म से नहीं ,जन्म से बनती है । अगर चमार कहलवाना पसन्द नहीं तो किसी और माँ के पेट से जन्म लिया होता ।"

लेकिन ऐसा नहीं है कि सिर्फ दूसरों की निगाह में ही धर्म परिवर्तन महत्वहीन है । स्वयं पण्डित और पादरी का रवैया भी कमोबेश एक जैसा ही है । इस घटना के थोड़े ही बाद तूफानी वर्षा से चमादड़ी का कुआँ डूब जाता है । चमादड़ी के लोग बेचैन हैं कि वे पानी कहाँ से लाएँ । जाटों के कुएँ से उन्हें कोई पानी नहीं भरने देगा । उनके अलावा मन्दिर का कुआँ उनके नजदीक है मगर वहाँ पंडित संतराम है जो किसी चमार को कुएँ के निकट भी नही आने देता ।

वे इसी सोच विचार में मग्न हैं कि प्रीतो का लड़का अमरू खबर देता है कि नंदसिंह की लड़की पाशो पादरी के घर में लगे नल से पानी ले आयी है । वे भी अपने - अपने घड़े उठाकर वहाँ पहुँच जाती हैं और पानी लेने लगती है ।

नल के इर्द गिर्द कीचड़ जमा हो जाता है । चमादड़ी की स्त्रियाँ आपस मे लड़ती - झगड़ती जोर जोर से नल चला रही हैंकि इसी

बीच एक औरत के गोद का बच्चा टट्टी कर देता है । पादरी की पत्नी के डाटने पर वह उसे साफ कर देती है मगर पादरी की पत्नी, जिसे उपन्यास में पादरानी कहा गया है, उनके जाने के बाद दरवाजा बंद कर के बाहर से ताला लगा देती है और पादरी को चुपचाप घर में बैठने को कह देती है । वह अंजील पढ़ने लगता है ।

कुछ देर बाद दरवाजे के बाहर तमाम महिलाएँ इक्ट्ठा हो जाती हैं और ताला देखकर जोर जोर से बात करते हुए पादरानी को इस हरकत के लिए जिम्मेदार ठहराती हैं । ये सुन पादरी और ज्यादा ध्यान से अंजील पढ़ने लगता है ।

बहुत सोच - विचार के बाद महिलाएँ पण्डित संतराम की मिन्नत करने का निर्णय लेती हैं । उन्हें देखकर पण्डित यज्ञोपवीत कान पर चढ़ा लेता है और रूखाई से पूछता है---

"यहाँ क्या लेने आई हो ?"

"पण्डित जी हमारा कुआँ पानी में डूब गया है । हमारे पास पीने के पानी की एक बूंद भी नही है ।" एक बुजुर्ग स्त्री ने हाथ जोड़ कर नम्रता सेकहा ।

"तो तुम मन्दिर के कुएँ पर चढ़ना चाहती हो ?

संतराम ने बहुत तल्ख लहजे में पूछा ।

"नही पण्डित जी, उस स्त्री ने कानों को छूते हुए कहा,"आप प्रकाश धेवर से कह दें कि वह कुएँ से पानी खींचकर हमारे घड़े भर दे ।"

"वह तुम्हारे बाप का नौकर है ? क्या वह तुम्हारा सेवी (कामा) है ?"

"पण्डित जी, तो आप भर दो ।" प्रसिन्नी ने सुझाव दिया ।

"मैं और तुम्हारा पानी भरूँ ?" पण्डित संतराम क्रोध से लाल-पीला हो गया और डण्डा उठा उनके पीछे दौड़ा ।

उपन्यास के इस अंश को पढ़कर बरबस ही प्रेमचंद की कहानी "ठाकुर का कुँआ" स्मृति में कौंध जाती है । कुँओं की छूत और पानी की तलाश में भटकती महिला वहाँ भी है और यहाँ भी । अंतर बस इतना ही है कि प्रेमचंद के समय तक ठाकुर का कुँआ ही वर्जित था पर जगदीश चन्द्र के समय तक आते आते यह वर्जना पण्डित के कुएँ और पादरी के नल तक फैल गई थी । वह कहानी आजादी के पच्चीस साल पहले की है, यह पच्चीस साल बाद की ।

दलितों के जीवन मे धर्म और अंधविश्वास एक दूसरे के के पर्याय बनकर आते है । इनमें भी पलड़ा प्राय: अंधविश्वास का ही भारी रहता है । झाड़-फूँक और टोना-टोटका को तन्त्र का विकृत रूप माना जा सकता है जो विद्वानों के अनुसार आर्यों द्वारा विजित अनार्यों अथवा असुरों की साधना पद्धति थी । "धरती धन न अपना" में वर्णित चमारों के जीवन में इनकी प्रबल जकड़बन्दी है । काली की चाची जब बीमार होती है तो पूरी बस्ती उसे ओझा से झड़वाने पर आमादा हो जाती है । डाक्टर न मिलने पर काली भी उसे शहर ले जाने की जगह उसका भूत उतरवाना ही उचित समझता है । इस काल के लिए रक्खें धेवर को बुलाया जाता है जो झाड़ - फूँक के लिए इलाके में मशहूर है । वह आते ही बताता है कि नई बनवाई हुई बैठक में भूतों का बास होता है जिनको अगर किसी सयाने को बुलाकर निकलवाया न जाय तो वे उसमें रहने वाले को पकड़ लेते हैं । इसीलिए चाची को नदीपार के नामी डाकू हरवेल सिंह पारिया के भूत ने पकड़ लिया है । फिर वह उसकी नाक के नीचे लाल मिर्च के बीजों को जलाता है जिससे वह खाँसी से बेकाबू होकर अन्त में निढाल हो जाती है मगर उसे एक घूँट पानी भी रक्खा नहीं पिलाने देता । इसी बीच आँधी आ जाती है तो वह कहता है कि हरवेल सिंह का भूत कोई ऐसा वैसा भूत नही है ।

तूफान बन कर ही जाएगा । सुबह तक चाची के होंठ नीले पड़ जाते हैं और आँखें पथरा जाती हैं । इस पर ताई निहाली काली को सांत्वना देते हुए कहती है---

"घबराओनहीं ,भूत निकल जाने के बाद ऐसी ही खुमारी आती है । .. प्रतापी को भूत निकलने के बाद बहुत कमजोरी हो गयी है । पुत्तरा,तू आप सोच, सरीर से दो बूंदें लहू की निकल जायें या घुटने, गोड़े पर चोट लग जाये तो सारा सरीर झूठा पड़ जाता है । इसके अन्दर से तो नामी डाकू का भूत निकला है । भूत आता है तो तंग करता है, जाता है तो जान सूली पर चढ़ा देता है ।"

चाची को,काली के,फिर भी अस्पताल ले जाने की, जिद पर वह कहती है--"काका उम्र बढ़ी हो तो दवा-दारू के बिना भी जान बच जाती है । लेकिन अन्त आ गया हो तो वैद्य,हकीम,डाक्टर ,दवा-दारू संत,पैगम्बर कोई कुछ नही कर सकते ।"[1]

अंधविश्वासों की यह जकड़न सामाजिक शिकंजों के साथ मिलकर और घातक हो जाती है । प्राय: अंधविश्वास सामाजिक

1-जगदीश चन्द्र ,"धरती धन न अपना" , पृ0- 183

व्यवस्था को संचालित करने के लिए अनुशासन कायम करने वाली ऐसी ताकत की भूमिका अदा करते हैं जो सामाजिक विधि - निषेधों का पालन सुनिश्चित कराती है । इसी वजह के चलते उपन्यास की त्रासदी घटित होती है । काली और ज्ञानोमें प्रेम संबंध और ज्ञानो के गर्भवती होने के बाद उसकी माँ ज्ञानो जाति और गोत्र सम्बन्धी सदियों से चले आ रहे विधि-निषेधों के चलते उनकी आपस में शादी करने में अपने को लाचार पाती है------

"वह इस मामले के बारे में जितना ज्यादा सोचती उतना ही ज्यादा उसे भय महसूस होने लगता । कई बार उसके मन में विचार आता कि उसका विवाह काली के साथ कर दे लेकिन यह सोचते ही वह सिहर जाती कि अपने ही गाँव,अपने ही मुहल्ले,अपनी ही गली और अपने ही गोत्र के लड़के से कैसे विवाह कर सकती है । ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ है । मुहल्ले वाले यह सुनते ही उन्हें कच्चा खा जायेंगे और उन्हें इलाके में तो क्या श्मशान भूमि में भी जगह नहीं मिलेगी ।"[1]

अन्ततः वह ज्ञानो को संखिया खिलाकर मार डालती है ।

1जगदीश चंद्र ;"धरती धन न अपना" ,पृ0- 278

"धरती धन न अपना" दलितों के अंतहीन शोषण की कथा है । इसमें उनका जुझारू और संघर्षशील रूप नहीं आया है लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि इसमें उनके चरित्र की दृढ़ता और व्यक्तित्व की बुलंदी का चित्रण नही है । काली जैसे सशक्त चरित्र हिन्दी उपन्यासों के समूचे इतिहास मे गिने-चुने ही मिलेंगे । उसके सामने चौधरियों की हरकतें नादान बच्चों का खेल मालूम पड़ती हैं । जरूरत पड़ने पर वह उनसे दो-दो हाथ करने से भी पीछे नहीं हटता । लेकिन उसे किसी प्रकार की क्रान्तिकारी चेतना से लैस नहीं दिखाया गया है । वह जानता है कि गाँव के दलितों का अपने अस्तित्व को बचाए रखने की जद्दोजहद इतनी प्रबल है कि वे संघर्ष में देर तक टिक नहीं सकते । यह एक वास्तविकता है और इस नाते उपन्यासकार ने हवाई क्रान्तिकारिता न दिखलाकर इस चरित्र और साथ ही इस उपन्यास को भी विश्वसनीयता ही प्रदान की है ।

दलितों के संघर्ष की एक पूर्व शर्त है उनका संगठन और आपसी एकजुटता । लेकिन इस दिशा मे प्रयास करने वाली शक्तियाँ नदारद है । वामपंथी विचारों ने पूरे विश्व में दलित और मेहनतकश तबकों को संगठित करके संघर्ष में उतारा लेकिन यहाँ उनका प्रतिनिधित्व

करने वाले डाक्टर बिशनदास और कामरेड टहल सिंह जैसे लोग हैं जो जनता के बीच काम करने की जगह गपोड़ियों की तरह सिर्फ क्रान्तिकारी लफ्फाजी करते है और अपनी दुरवस्था के लिए जनता को ही दोषी ठहराते हैं । जब गाँव के भूस्वामी जाट मजदूरी माँगने के कारण दलितों का बहिष्कार कर देते हैं तो ये लोग वर्ग संघर्ष संचालित करने के लिए उनके साथ बैठक करते हैं। उस बैठक में होने वाली बहस का एक नमूना देखें----

'टहलसिंह ऊँगली से डाक्टर को अंकित करता हुआ जोश में बोला,"कामरेड ,तेरी एपरोच ट्राटिस्की लाइन से मिलती-जुलती है ।"'

डाक्टर ने उत्तर में और कई नाम गिनवा दिये और वे अपने आसपास बैठे हुए व्यक्तियों को भूल कर फिर बहस में उलझ गये ।

इस सारी बहस का कारण यह था कि डाक्टर काली के इस कथन का समर्थक था कि चमारों को अगर फाके न काटने पड़ें तो वे बहुत दिनों तक जाटों के बाइकाट का मुकाबला कर सकेंगे । परन्तु टहलसिंह का विचार था कि काली की यह सोच प्रोलतारी स्पिरट के विरुद्ध है क्योंकि इससे यह आभास मिलता है कि ये लोग काम-चोर हैं । इंक्लाबी स्पिरट का मतलब यह है कि फाके काटकर ,गोलियाँ खाकर और जिंदगी को हथेली पर रखकर संघर्ष किया जाये ।

चमादड़ी की ओर आते हुए बन्तू ने काली से कहा "ये तो थूक से पकौड़े पकाते रहे हैं ।"

"देखो, शायद कल तेल भी आ जाये ।" काली ने उत्तर दिया और वे चमादड़ी की ओर मुड़ गये ।[1]

उपन्यास की यह स्थिति भारत के वामपंथी आन्दोलन पर भी एक टिप्पणी है ।

उपन्यास मे दलित संघर्ष के लिए प्रस्तुत नहीं हैं लेकिन जब संघर्ष उन पर थोप दिया जाता है तो वे जमकर मुकाबला करते हैं । गाँव में एक बार बाढ़ आती है । गाँव को बचाने के लिए बंध काटकर पानी को खेतों की तरफ छोड़ दिया जाता है । इसके बाद मक्के की फसल की हिफाजत के लिए खेतों से पानी निकालने के काम पर चमारों को लगा दिया जाता है । चौधरियों की मंशा है कि गाँव पर आई सामूहिक विपत्ति के नाम पर यह काम उनसे मुफ्त में करा लिया जाये । जब दो दिन तक उन्हें मजदूरी के नाम पर फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती तो तीसरे दिन वे उसकी माँग करते हैं ---

"सब खामोश खड़े थे । चौधरी हरनाम सिंह जिसकी

1-जगदीश चन्द्र ,"धरती धन न अपना" , पृ0- 243

ओर देखता वह सिर झुका लेता और उसके प्रश्न का कोई उत्तर न देता । चौधरी ने काली की ओर देखा तो वह सशक्त स्वर में बोला, मैं बिना पैसे के काम नही करूँगा ।"

काली ने अपनी टोकरी उठा ली । चौधरी हरनाम सिंह ने उसे गाली दी तो वह एक कदम उसकी ओर बढ़ता हुआ बोला, "चौधरी, ये गालियाँ मुझे भी आती हैं । मुँह सँभाल कर बात कर । हम मेहनत बेचते हैं, इज्जत नहीं । माँएं - बहनें सबके घर में हैं ।

यह सुन अन्य चौधरी भी क्रोध में आ गये । चौधरी मुंशी यह सोचकर आग-पानी हो रहा था कि गाँव के चमार को इतना साहस कैसे हुआ कि उनके सामने मुँह खोले । वह दाँत पीसता हुआ बोला, "इन सबको गाँव से निकाल दो ।

"इनका खेतों में आना जाना बन्द कर दो ।"
"इनकी औरतें खेतों में आये तो उन्हें वहीं घेर लो ।"
"चमार खेत में आये तो साले को जान से मार दो ।"
"कुत्ते चमारों तुम एड़ियाँ रगड़-रगड़कर मरोगे ।

हम तुम्हें भूखा मार देंगे । कई चौधरी एक साथ बोल उठे ।"[1]

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना", पृ0- 235

"जगदीश चन्द्र का तमाम लेखन गहरे इतिहास बोध से निकला यथार्थवादी शैली का लेखन था ।"[1] प्रेमचन्द और रेणु के बाद जगदीश चन्द्र ग्रामीण जीवन के संभवतः सबसे समर्थ उपन्यासकार हैं । उनकी दृष्टि में गाँव एक अविभाजित इकाई के रूप में अपनी समग्रता में उपस्थित है । कोई दूसरा लेखक होता तो इस बाईकाट के चित्रण में एकांगी दृष्टि का शिकार हो जाता और दलितों के जुझारूपन अथवा उनकी बेचारगी §दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं§ का एकायामी चित्रण करने में रम जाता या चौधरियों के अत्याचार और मनमानेपन की क्षमता का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करने लगता लेकिन जगदीश चन्द्र चौधरियों की ज्यादती को स्पष्ट करने के बाद उस खोखली नींव की तरफ देखने से नहीं चूकते जिस पर चौधरियों का झूठा अभिमान टिका है । उन्होंने दलितों का बाइकाट किया लेकिन वे खुद भी उसके शिकार हुए । चमारों और जाटों के जीवन पर पड़ने वाली, इस बाइकाट के असर की, एक बानगी देखें ---

"कुछ ही दिनों के बाद चमादड़ी पर बाइकाट का प्रभाव महसूस होने लगा । अजनाज के साथ ईंधन और उपले भी खत्म होने लगे और उन्हें चिंता हुई कि अगर बाइकाट खत्म नहीं हुआ तो शायद फाकों तक की

1-विनोद शाही "पहल" 54 - पृ0- 57

नौबत आ जायेगी । परन्तु वे एक दूसरे का साहस बढ़ाते । इस स्थिति ने एक-दूसरे को आपस में बहुत निकट कर दिया था । स्त्रियाँ आपस में अब बहुत कम लड़ती झगड़ती थीं । वे जब किसी दुर्ग में घिरी हुई सेना की तरह चौकस रहते हुए एक - दूसरे का हाथ बटा रहे थे ।

खेतों में बाढ़ का पानी सूख गया था और चिकनी जमीन पर पपड़ियाँ सी बन गयी थीं । मक्की के डण्ठलों की जड़ें जैसे उसमें जकड़ी हुई थीं और पौधे कुम्हलाने और सूखने लगे थे । चौधरियों ने अपने स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों को भी नलाई के काम पर लगा दिया था । ढोर-ढंगर चौधरानियों ने संभाल लिये थे । लेकिन उनकी अनथक कोशिशों के बावजूद मक्की की रही सही फसल बरबाद हो रही थी ।

हर चौधरी बाजीगरों के कोठों तक हो आया था । अव्वल तो बाजीगर नलाई-गुड़ाई का काम करना नहीं चाहते थे । हजार-हजार नखरे करने के बाद कोई मानता था तो दुगनी दिहाड़ी माँगता था । बाहर से काम करने के लिए कोई चमार तैयार नहीं था, दूसरे अपनी बिरादरी का भी लिहाज था । गरमी के सताए हुए और थकावट से चूर चौधरी चमारों को गालियाँ देते हुए उनकी हठधर्मी और मूर्खता को कोसते रहते और मन ही

मन में चाहते कि झगड़े का जल्द से जल्द निपटारा हो जाये । चमार सूख रही मक्की को देख दिल ही दिल में कुढ़ते और चौधरियों को बुरा-भला कहते कि अपने हठ से फसल बरबाद कर रहे है ।"[1]

इसी आपसी निर्भरता के चलते आपस में कुछ गिले-शिकवे करने के बाद दोनों पक्ष समझौता कर लेते हैं । दलितों को मजदूरी मिल जाती है और चौधरियों की फसल बच जाती है ।

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना" , पृ0-250

(11) नाच्यौ बहुत गोपाल: अप्रत्यक्ष शोषण की मार्मिक गाथा

यशस्वी उपन्यासकार अमृतलाल नागर की बहुचर्चित कृति " नाच्यौ बहुत गोपाल" दलितों में भी अछूत माने जाने वाले मेहतरों के त्रासद जीवन की दारूण कथा है । इसमें सवर्णों के द्वारा सीधे उनके शोषण या उत्पीड़न के बजाय उस अमानवीय जीवन स्थिति पर जोर दिया गया है जिसमें वे रहते हैं और जिसकी वजह से अनेक मानवीय संवेदनाओं से भी अछूते रह जाते है ।

इस उपन्यास की भूमिका में नागर जी ने स्टेनले राइस के इस विचार का हवाला दिया है कि "अछूत मानी जाने वाली जातियों में प्राय: वे जातियाँ भी हैं, जो विजेताओं से हारी और अपमानित हुई तथा जिनसे विजेताओं ने अपने मनमाने काम करवाये थे ।"[1] नागर जी मेहतरों को अतीत की ऐसी ही पराजित जातियों का वंशज मानते है जिनसे विजेताओं ने मल-मूत्र उठवाने का अपमानजनक काम लिया होगा ।

उपन्यास में प्रमुख पात्र श्रीमती निर्गुनियाँ हैं जो एक ब्राह्मण परिवार में पैदा होने के बाद पचहत्तर वर्षीय वृद्ध से परिस्थिति-

---

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल" ,पृ०- 11

वश ब्याही गयीं और उससे मुक्ति की तलाश में मोहन नाम के मेहतर युवक के साथ भाग निकलीं । यहीं से उनका मेहतरों के जीवन से संपर्क होता है और धीरे-धीरे वे उनमें से ही एक हो जाती हैं । श्रीमती निर्गुनियाँ के जीवन की कथा के रूप में ही मेहतरों के जीवन की तस्वीर लेखक द्वारा पेश की गयी है । यह आत्मकथ्य शर्मा नामक पत्रकार से उनकी बातचीत के रूप में व्यक्त हुआ है ।

श्रीमती निर्गुनियाँ जिन्हें तब निर्गुन कहते थे, जब मोहन के साथ अपने पति के घर से भागती हैं तो उन्हें वह अपने मामा-मामी के घर, जहाँ वह रहता था, ले गया । वहीं उन्हें इस अमानवीय जीवन का प्रथम साक्षात्कार हुआ । इसकी एक बानगी देखें----

'निर्गुन ने अपनी ममिया सास के पैर छुए । "ये कौन है रे ?" मोहन चुप ।

"बताता क्यों नही ?"

"समझ लो तुम्हारी बहू हैगी ।"

"बहू ?" माई आश्चर्य से बोली ।

"धीरे बोलो माई, धीरे, सब बताता हूँ । अपने बूढ़े मरद की छठही-सतही औरत हैगी बिचारी । वह साला हरामी इसे मारे

और दुःख दे । बिचारी जान बचाने के खातिर घर से निकल आई सो सरन में आ पड़ी । फिर क्या करता माई ? मैंने सोचा ले चलूँ, माई हमारी निभा लेगी ।"

लम्बे छरहरे बदन की कोयले से भी अधिक काली, आगे के ऊपरी दो दाँत टूटे हुए, लाल आँखों वाली माई चारपाई से उठीं । बहू का घूँघट उघाड़ कर उसका सिर नंगा कर दिया । फिर धरती पर रखी ढिबरी उठाकर उसके चेहरे पर रोशनी की, दूसरे हाथ के झटके से उसकी झुकी ठोड़ी उठाई, थोडी देर मुँह देखा । गेहुँए साँवले धूपछाँही रंग की सलोनी सुन्दरताई ने कलेजे में चरस का लम्पा सा उठा दिया । बहू के कपाल पर हथेली से धक्का मारकर माई बोलीं, "अरे यह हरजाई है । इसके चेहरे पर लिखा है कि सत्तर खसम करके तेरे पास आई हैगी ये रंडी ।"[1]

इस प्रथम साक्षात्कार में निर्गुन को मोहन के बारे में यह जानकारी भी मिलती है कि वह किसी ठाकुर की संतान है । मामी उसे बार-बार हरामी की गाली देती है । अंततः अपने जन्म की हीनता का परिचय दिए जाने पर नाराज होकर मोहन घर छोड़कर अलग रहने और

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल", पृ0- 77

और क्रिश्चियन बन जाने की धमकी देता है । वह अंग्रेजों की पलटन के बैंड में बावर्ची का काम करता है । उसके गोरे बैंड मास्टर से उसके लगाव को देख कर इससे पहले दोनों के बीच अप्राकृतिक संबंध की अफवाह उड़ी थी । उस समय भी मामी ने उसे गाली दी थी लेकिन मोहन के घर से अलग हो जाने की धमकी देने पर चुप हो गयी थी । मोहन जानता है कि मामा-मामी की भविष्य की उम्मीदों का वह अकेला केंद्र है इसलिए वे उसका अलग रहना नहीं बर्दाश्त कर सकते । इस बार भी यह धमकी कारगर सिद्ध होती है और मामा मामी निर्गुन को घर मे रखने पर तैयार हो जाते हैं ।

उपन्यास में मेहतरों की अमानुषिक जीवन स्थितियों का वर्णन किया गया है । उन्हे ऐसी परिस्थिति में जन्म से लेकर मृत्यु तक रहना पड़ता है कि सामान्य मानवीय संवेदनाएँ और उदात्त भावनाओं से भी वे अनजान रह जाते हैं । मोहन की मामी को लगता है कि उस की आशाओं के अकेले केंद्र मोहन के जीवन पर अधिकार जताने वालीयह ऐसी स्त्री आ गई जिसको लाने में खुद उसकी कोई भूमिका नहीं रही । ऐसी स्थिति में वह मोहन से हाथ धो बैठेगी । यही नहीं उसके दिमाग में यह बात भी आती है कि ऊँची जाति की होने के कारण वह उनका पुश्तैनी काम नहीं करेगी और उसे जिन्दगी भर बैठा कर खिलाना पड़ेगा । इसलिए वह शुरू से ही उसे

अपमानित और प्रताड़ित करके अपने अधिकार में लाने और मल-मूत्र साफ करने के पुश्तैनी पेशे में उसे लगाने की कोशिश करती है । निर्गुन अपनी तरफ से उसका गुस्सा शान्त करने के लिए उसकी सेवा-टहल करके उसे खुश करने का प्रयत्न करती है । ऐसी ही एक स्थिति दृष्टव्य है----

"ले यह दूसरा पैर दबा ।" निर्गुन सास का दूसरा पैर भी दबाने लगी । थोड़ी देर दोनों ओर से मौन रहा । एकाएक माई ने पूछा "मेरे लड़के को फँसाने से पहले तूने कितने खसम और किये, बोल !" निर्गुन चुप रही । इस बार बुढ़िया ताव में बैठ गयी और बहू के दोनों हाथ अपने हाथों से पकड़कर उन्हे झिंझोर कर किटकिटाते हुए स्वर में पूछा, "तुझे मेरी ही इज्जत पर डाका डालने को सूझा था, रंडी, छिनाल कहीं की । तेरी जवानी में आग लग जाय । कलमुंही ले के भी आई तो चार-पाँच सौ रूपल्लियाँ । हरामजादी ।" कहते-कहते माई आवेश में आ गई । पैर खटिया से नीचे उतार झपटकर दोनों हाथों से उसकी गर्दन दबोच ली, "आखिर मेरा लड़का ही तुझे फँसाने को मिला है ।" कहकर माई ने निर्गुन को जोर से धक्का दिया । वह फर्श पर लुढ़क पड़ी ।"[1]

निर्गुन के प्रति मोहन का व्यवहार भी कुछ बेहतर

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल", पृ0-82

नहीं है । विपरीत सामाजिक पृष्ठभूमियों से आने के कारण दोनों के बीच प्रेम और घृणा का अजीब रिश्ता कायम होता है । मामी निर्गुन को सुअर का मांस पकाने का आदेश देकर काम पर चली जाती है । निर्गुन ने इससे पहले कभी मांस छुआ भी नहीं है । उसके लिए वह "निषिद्ध वस्तु" है । वह रसोई का चूल्हा जलाती है । उपन्यासकार के शब्दों में, चूल्हे की लकड़ियाँ ही नहीं उसके संस्कार भी रोम-रोम में उसी तरह से सुलग रहे थे ।"[1] इसी बीच मोहन जग जाता है और उसे अपने पास लिटाकर उसका चुम्बन लेते हुए उसकी उदासी की वजह पूछता है । निर्गुन उसे सिसकते हुए बताती है कि माई ने मांस पकाने को कहा है जबकि उसने आज तक मांस छुआ भी नही । इस पर मोहन सिगरेट का कश लेते हुए उसके गाल पर चूमते समय दाँत से काटकर घृणा भरी पाशविक हँसी हँस कर कहता है"------

"मेहतर को भी तुमने पहले कभी नहीं छुआ था । फिर कैसे अपने जोबन की दुकान खोलकर मुझे फँसाने के लिए तुमने अपने मन को राजी किया था ,बोलो ? कहते हुए उसने सिगरेट का जलता हुआ सिरा उसके गाल से तनिक सा छुआ दिया । निर्गुन के गाल पर मोहना के दाँतों के निशानों के बीच हल्का सा जलन का दाग पड़ गया ,लकिन इस बार वह काठ की पड़ी

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल" ,पृ0-83

रही । उसकी अपराध चेतना इतनी प्रबल थी कि मोहना जलती सिगरेट का सिरा यदि रखे भी रहता तब भी वह मुँह से कराह न निकालती ।"[1]

नई ससुराल मे चार दिन बीतते न बीतते निर्गुन की बुरी गत हो जाती है । इन चार रातों में ममियाँ सास के पैर दबाते हुए रोज ही गालियों के साथ पैरों के क्रोधभरे आघात उसे झेलने पड़ते हैं । अपने इस रोज के अपमान से वह काठ हो जाती है । इन चार दिनों मे न उसने पेट भर खाया है, न नींद भर सोई है । मोहन रात में अपनी नौकरी से कुछ खाने का सामान छिपाकर लाता है । साथ खिलाता है, पिलाता है लेकिन यह खाना-पीना निर्गुन को विष जैसा लगता है । अब मोहन भी उसे अपनी भारी विवशता लगने लगा है । वह प्यार करते-करते उसे रोज अवश्य ही कहीं न कहीं जोर से काटता है, जलती सिगरेट से उसके शरीर के किसी न किसी भाग को दागता है । वह मशीन की तरह सब कुछ झेलती है । अंततः उसका मन मस्तिष्क इस स्थिति से विद्रोह करता है । वह तय करती है कि अब वह यन्त्रवत इन चीजों को बर्दाश्त नहीं करेगी और इनसे बचने के लिए कोई रास्ता निकालने की कोशिश करेगी ।

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल" , पृ0- 83

रात में मोहन के आने पर वह उसे उसकी मामी के खिलाफ यह कहकर भड़काने की कोशिश करती है कि वह दुनिया भर में उसे हरामी कहकर उसका और उसकी माँ का अपमान करती है जिसे अब वह बर्दाश्त नहीं कर सकती । वह अपनी जान देने की धमकी भी देती है लेकिन उसकी यह चाल उल्टी पड़ जाती है । मोहन उसे कागज और पेंसिल देकर आत्महत्या पूर्व का बयान लिखवाता है फिर छत की धन्नी से साड़ी बाँधकर फंदा तैयार करता है । उसके बाद उससे कहता है कि आखिरी बार उसका सुख भोगने के बाद वह उसे फाँसी पर चढ़ा देगा । इसके बाद का हाल निर्गुन देवी के ही शब्दों में निम्नवत है ----

"क्या ,क्या कहूँ, कितनी खुशामदें करा के अपने पैरों पे गिरा के अपने आगे मेरी नाक रगड़वा के उस जालिम ने मेरी जान बख्शी थी । यह सच है कि बाद में मुझको अपने मोहना से बहुत प्यार हुआ उसको भी मुझसे बहुत प्यार हुआ पर निगोड़ा शुरू ही से था बड़ा जालिम ।........ उसके बाद में डाकू बन जाने का मुझे कुछ अचरज नहीं हुआ । खैर,जो भी हो तन-मन की उस टूटन-थकान और अपमानों से भरी वह घिनौनी रात के बीत जाने पर मेरे लिए एक सबसे घिनौना दिन उगा । जब मोहना और मामू चले गए तब माई घर में ही टट्टी गई और मुझसे कहा ,"इसे उठाकर बाहर

नाली में फेंक आ । मैंने कहा यह मुझसे न होगा । उस दिन मुझपे कैसी कैसी मारें पड़ी है । कलम से क्या लिखूँ । माई ने रात में हम दोनों की बातें सुन ली थी और सवेरे उसका ही उन्होंने जो दण्ड मुझे दिया वह मेरी तब तक की जिन्दगी की सबसे बड़ी सजा थी । तब तक मैं ने कहावत में सुना ही था कि "मार-मार के भंगी बनाया जाता है । मैं सचमुच ही मार-मार के भंगिन बनाई गई थी ।"[1]

निर्गुन देवी पत्रकार शर्मा के पूछने पर उस वाक्ये को भी बयान करती है यानी इस लोमहर्षक प्रक्रिया को जिसमें उन्हे मार-मारकर भंगिन बनाया गया ----

"उस दिन सवेरे उठी वह हरामजादी और जब मरद चले गये तो कुंडा बंद किया । आप सामने ही निर्लज्जता से मोरी पर हगने बैठ गई हरामजादी ।.... फिर झाडू-पंजे की ओर इशारा करके मुझसे कहा इसे कमा,टोकरे में डाल । मेरा सिर चकरा गया ... अरे लातों-लातों, घूंसों-घूंसों ,झोंटे खींच-खींच के मारा साली ने । मगर मैं भी ऐसी पक्की रही बाबूजी,मार खाते-खाते बेहोश हो गई पर अपनी जिद न छोड़ी ।उस

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल" ,पृ0- 92

दिन जब होश आया तब वह जा चुकी थी । मगर अपने पाप का पोटला वहीं मोरी पर ही छोड़ गई थी । उस दिन मैंने खाना-वाना कुछ नहीं बनाया बाबूजी । दोपहर बाद आई तो फिर उसने मुझे मेरी कोठरी में बुरी तरह से मारा । मुझे हाथ पकड़कर खींचा ,दीवाल से मेरी खोपड़ी टकरा दी । मार खाते-खाते बुरी हालत हो गई बाबूजी, मगर मैं भी न उठी सो न उठी ।

.....मैंने सोचा भाग में जो कुछ लिखा के लाई थी वह तो हो ही गया,मैं जब ब्राह्मण के घर से मेहतर के घर आकर बस गई, सारे करम हो गए तब पूरे सोला आने मेहतरानी क्यों न बन जाऊँ । लेकिन बाबूजी मन के सोचने और करने में बड़ा अन्तर पड़ता है । मन की हिचक में बिना खाए-पिए वह मेरा छठा रोज था बाबूजी । मैं हर तरह से टूट चुकी थी । सातवें रोज मुंह अंधेरे उठी,नाक पर पट्टी कसकर बांधी और पूरे हठ के साथ मेहतरानी बन गई ।"[1]

आर्थिक दुरवस्था से भी अधिक दलितों के लिए , तकलीफ की बात है ऊँची जातियों के दबंग लोगों के हाथों उनकी बहन-बेटियों की बेइज्जती । पिछले दिनों मराठी में युवा लेखक शरण कुमार लिम्बाले की

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल" , पृ0- 99

आत्मकथा प्रकाशित हुई "अक्करमाशी" । इसका अर्थ हिन्दी में होगा नाजायज संतान यानी "हरामी" । इस आत्मकथा में श्री लिम्बाले ने गाँव के असरदार पटेलों से दलित महिलाओं की बड़ी संख्या में होने वाली संतानों की स्थिति का व्यापक चित्रण किया है । लिम्बाले स्वयं भी उनमें से एक हैं । इस आत्मकथा के प्रकाशित होते ही समूचे भारतीय साहित्य में धमाका सा हुआ और मराठी तथा हिन्दी समेत तमाम भारतीय भाषाओं में ऐसी आत्मकथाएँ लिखी जाने लगीं ।

अब से लगभग दो दशक पहले नागर जी ने अपने उपन्यास का नायक एक ऐसे मेहतर युवक को बनाया है जो ठाकुर पिता और मेहतर माँ की संतान है । कदम-कदम पर उसे इस वजह से अपमानित होना पड़ता है । यहाँ तक कि खुद उसकी मामी भी उससे नाराज होने पर बेहिचक उसे "हरामी" कहती है और उसकी माँ को गाली देती है । अपनी मेहतर जाति में भी इसी कारण उसकी अवमानना होती है । उसकी पत्नी निर्गुन उसे बार-बार इस अतीत को त्याग कर नई पहचान के साथ किसी नई जगह जा बसने के लिए प्रेरित करती है लेकिन मोहन इसे स्वीकार नहीं करता है ।ऐसे ही एक मौके पर जब निर्गुन उसे कोई दूसरा धंधा करके आबरूदारी से रहने और ठाकुर

साहब कहलाने के लिए प्रेरित करती है ,तब वह कहता है-----

"मेरे बाप साले हरामी की ब्याहता ठकुराइन तो कोईऔ होगी । उससे जो बच्चे पैदा हुए होंगे वह सब साले ठाकुर ही कहलाते होंगे । और मैं कमनसीब उसी हरामी की औलाद उस साले की हबिस की शिकार अपनी अम्मा के पेट से पैदा होकर मेहतर कहलाता हूँ । मुझे नफरत है इन सब ऊँची कौम वालों से । साले सोहबत के शौक में हमारी औरतों को अकेले में दबोचते हैं । सातों करम करके बाहर से उजले बनते हैं । और फिर उन्हीं से जो बच्चे होते हैं,उन्हें छूते हुए भी घिनाते हैं । मेरा बस चले तो एक दिन छावनी के सारे तोपखाने को इन सरीफ और बड़े आदमी कहलाने वाले जल्लादों की बस्त्यिों पर लगवाकर इन हिन्दू,मुसलमान,क्रिश्चेनों को एक साथ धड़ाम-धड़ाम उड़वा दूँ । इन साले हरामियों की ....।"[1]

मोहन का यह आक्रोश बिलकुल उचित और स्वाभाविक लगता है लेकिन इस सिलसिले में आक्रोश के साथ-साथ विडंबना के स्वर भी घुले-मिले हैं । नागर जी को मानव-मन की गहरी समझ है । लम्बे समय तक उपेक्षा और अपमान सहने वाले सिर्फ जायज आक्रोश के सहारे नही रह सकते ।

1-अमृतलाल नागर ,"नाच्यौ बहुत गोपाल" , पृ0- 117

अगर वे अपने ऊपर किए गये अत्याचारों का विरोध नही कर पाते,उनका बदला नही ले पाते तो धीरे-धीरे उसी के रंग मे रंग जाते है । कहा जाता है कि शासित वर्ग भी किसी विकल्प के अभाव मे शासक वर्ग की ही भाषा बोलने पर मजबूर हो जाता है । हर बेटा बाप बनने पर अपने बेटे पर वही अंकुश लगाना चाहता है जो उसके ऊपर उसके बाप ने लगाए थे और जिनके विरूद्ध उसने विद्रोह किया था । हर बहू सास बनने पर अपनी सास की प्रतिलिपि दिखने लगती है । उपरोक्त वार्तालाप के तुरन्त बाद,उपन्यास मे, मोहन अपने मालिक मिस्टर जैक्सन के पास निर्गुन के साथ जाता है । वहाँ जैक्सन का प्रियपात्र माशूक उर्फ डेविड उसे अछूत मानकर उसका छुआ हुआ खाने से ईंकार कर देता है । मोहन बदले में उसे "रंडी की औलाद" कहता है क्योंकि वह एक जागीरदार और एक तवायफ की संतान है । अपनी माँ के प्रति किए गए अत्याचारों के विरूद्ध उसका आक्रोश अब दूसरे की माँओं को गाली देकर निकलता है ——

"अपने पालट का मुँह दबोच लीजे ,मास्टर,नही तो अल्ला कसम इस रंडी की औलाद को मारते-मारते तिगनी का नाच नचा दूँगा । साला अपने आपको ....।"

"नो-नो,माई डियर माशूक इज ए नबोब्स सन ।"

"नही सरकार जो रंडी के पेट से जनम ले, वो साला रंडी की औलाद । पता नही सरकार ,नवाब का है कि तेली,तमोली,धोबी का है ।"[1]

सिर्फ यही नहीं इस रास्ते पर कदम बढ़ा देने के बाद मोहन उससे अपने बाप के बड़प्पन की शेखी भी मारना शुरू कर देता है —

"मोहन ने माशूक का हाथ झटक कर कहा ,"साले स्वीपर होगा तेरा बाप, मैं तो ठाकुर का बच्चा हूँ । चल सीधी तरह से ।"

"तुम ठाकुर हो ?"

"अबे असली ठाकुर । मेरा बाप दस गाँव का जमींदार था

आगे चलकर मोहन जब डकैतों का सरदार बनता है तो बकौल उपन्यासकार अपने जन्म का अर्द्धसत्य ही उद्घाटित करता है । वह यह तो बताता है कि वह उच्चवंश के ठाकुर का बेटा है मगर यह नही बताता कि उसकी माँ एक मेहतरानी है । लोगों को मार-मारकर भंगी बनाने का शौक उसे भी है । हिन्दू-मुस्लिम दंगों के दौरान वह हिन्दू जिहादी बना एक मुसलमान बैरिस्टर की जवान लड़की का अपहरण कर लेता है । निर्गुन के इस विषय में पूछने पर कहता है —

1-अमृतलाल नागर,"नाच्यौ बहुत गोपाल" पृ0- 119

2-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल" पृ0- 125

"हाँ लाया हूँ,लाया हूँ । एक पण्डिताइन जो अपनी खुशी से मेहतरानी बनी ,मेरी औलाद की माँ बनी । उसे अपनी बगल में बिठा के एक शेखजादी को मार-मार के भंगन बनाऊँगा । फिर साली को गली-गली की कुतिया बना के छोड़ दूँगा ।"[1]

प्रेमचन्द की कहानी "कफन" की तरह "नाच्यौ बहुत गोपाल" आदि से अंत तक दलितों के अमानुषीकरण का दस्तावेज है । अंतहीन अपमान और उत्पीडन कैसे किसी समूची जाति की चेतना को अनुकूलित कर लेता है और अपने ही साँचे में ढाल लेता है ,इसी की मार्मिक गाथा इस उपन्यास में दर्ज है । मेहतर जाति के मोहन जैसे लोग ही नहीं बल्कि निर्गुन जैसी भली और सदाशयी महिला भी इस प्रवृत्ति से अछूती नहीं रह पातीं । बचपन से ही यौन शोषण की शिकार रही निर्गुन को जब मोहन के डाकों और ऊँची जाति की महिलाओं की बेइज्जती की खबरें मिलती हैं तो उसे दिल ही दिल में खुशी होती है । मुसलमान बैरिस्टर की उपरोक्त लड़की के बारे में मोहन का आदेश सुनकर भी उसे कुछ ऐसे ही खयाल आते है----

"अरे मैं साली को गधे का मूत पिलाऊँगा और उसके

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल" ,पृ0-26

फरिश्ते भी पिएँगे । श्योबकस एक काम करो । दो घंटे के बाद एक टोकरा, एक झाडू , एक पंजा चाहिए । साली शरीफजादी को मार-मार के मेहतरानी बनाऊँगा । एक बार बस्ती के घर न कमवाए उससे तो मैं असली ठाकुर बाप का नहीं ।"

पीछे के कमरे में निर्गुनिया बैठी सुन रही थी । उसका रोयाँ-रोयाँ थर्रा उठा । मोहना की माई ने उसे भी मार-मार कर मेहतरा बनाया था । सोच-सोचकर निर्गुनिया के कलेजे में उस याद की तपती सलाख उतर जाती थी और उसी पीड़ा से उसे बैरिस्टर की कन्या को भंगिन बनाने के प्रस्ताव से लगा कि मोहन यह बहुत बड़ा अनाचार करने जा रहा है । अरे मारे-पीटे, छल-बल से उसका मजा ले ले, फिर निकाल बाहर करे । ऐसी औरतें आए दिन रंडियाँ बनती रहती हैं । इसे मेहतरानी क्यों बनाता है ? रंडी बना दे ।[1]

मेहतरानी की जगह रंडी बनने का विकल्प निर्गुन के सामने भी उपन्यास में कई जगह मौजूद था लेकिन उसने उसे अपने लिए नहीं चुना हालांकि इस लड़की के प्रति पूरी सहानुभूति के साथ यह विकल्प उसके दिल में आता है ।

- 5

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल", पृ0-266

सिर्फ दूसरों की बहू-बेटियों को ही नहीं बल्कि अपने घर की महिलाओं को भी मजबूरी में इन भूखे भेड़ियों के सामने पेश करना पड़ता है । मानवीय गरिमा से च्युत इन अभागे लोगों के जीवन में अपमान का यह दंश कदम-कदम पर मिलता है । कभी समाज के ठेकेदार इनकी इज्जत लूटने के लिए तैयार होते हैं तो कभी इनकी भलाई का ढिंढोरा पीटने वाली व्यवस्था का प्रशासन तन्त्र । उपन्यास में पत्रकार शर्मा का साक्षात्कार मजीद नाम के एक ऐसे ही मेहतर युवक से होता है जो अपनी पत्नी को नगरपालिका के दारोगा के पास जाने को कह रहा था ताकि एक महीने के लिए किसी के एवज पर उसे नौकरी मिल सके । शर्मा यह सुन कर दंग रह जाता है । एक दूसरी औरत मजीद को डांटते हुए कहती है------

"तुम तो बेकार पीछे पड़े होगे । अरे यह हाकिम लोग बड़े मुर्दार होते हैंगे । हरामजादे इज्जत की इज्जत लूटेंगे और पैसे भी पूरे नहीं देंगे । भला बताइये,एवजी की नौकरी के लिए पन्द्रह सौ रूपये माँग रहे हैंगे । ऊपर से शर्त यह भी है कि औरत के हाथ भेजें । यह कोई भलमनसाहत हेगी । महीने भर बाद फिर वही चरखा । अपनी औरत को कुतिया बनाओ और ऊपर से हजार पाँच सौ फिर चढ़ाओ तो नौकरी पक्की । अंधेर-खाता है ।"[1]

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल" ,पृ0-21

शर्मा के पूछने पर मजीद अपना पक्ष कुछ इस तरह रखता है---"मैं तो खैर शराब का गुनहगार हूँ ही सरकार, मगर मेरी बीबी हरामजादी भी कुछ कम नही हैगी । अल्ला को मुँह दिखाना है,सच कहूँगा बुरी औरत नहीं हैगी । बाकी एकदम दूध की धोई भी नहीं हैगी । चाहे तो बिला उज्र मेरा काम करवा सक्ती है । मगर वह चाहती ही नही कि मैं नौकरी पाऊँ । उसके ताबे मे बना रहूँ,उसकी सुनानियाँ सुनता रहूँ । अपने नशे की तलब में उसके सामने हाथ फैलाए भिखारी बना खड़ा रहूँ । सो मजीद के लिए नामुमकिन है सरकार । पेटी-वेटी,बैण्ड-वैण्ड बजाकर अपना नशा-पत्ती चौकस करके भी मैंने हजार रूपये बचाए है । हूजूर आपसे झूठ नही बोलूँगा । नौकरी खाली इसलिए चाहता हूँ कि दिन बेकार जाता है । खाली बैठता हूँ तो पीने की सूझती है ,नौकरी पा जाऊँगा तो सरकार दो बच्चे पालने में मेरा और उसका हिस्सा बराबर-बराबर का रहेगा,नाक तो नीची नहीं होगी सरकार ।"[1]

पूरा शासनतन्त्र निरपवाद रूप से दलितों के ऊपर अत्याचार करने में एक दूसरे से होड़ लेता है । अंग्रेजों के समय से ही अनेक

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल" ,पृ0-27

दलित जातियों को अपराधियों की श्रेणी में रख दिया गया है । ये वही जातियाँ हैं जिन्होंने एक समय अंग्रेजों का सड़कों पर चलना मुहाल कर दिया था । आजाद भारत में भी दलितों पर अत्याचार का यह सिलसिला बदस्तूर जारी है । समाज के सबसे निचले पायदान पर खड़े आदमी से एक दर्जा नीचे की गिनती में जीने को अभिशप्त मेहतर जाति पुलिसवालों की दरिंदगी का सबसे आसान शिकार होती है । किसी भी पुलिसवाले को पूरा हक हासिल है कि वह जब चाहे किसी मेहतर बस्ती में घुसकर दिन दहाड़े किसी की पिटाई कर दे या किसी महिला के साथ बलात्कार कर ले । दुनिया के सबसे बड़े लोकतन्त्र भारत में जंगल का कानून चल रहा है ।

इस उपन्यास मे नागर जी ने मेहतर बस्ती पर हुए ऐसे ही एक पुलिस हमले का वर्णन किया है ।

"लगभग चार बजे गली में एकाएक तहलका मच उठा । गली में पुलिस आई थी । चमेली का मरद सलामत और उसका पड़ोसी फूला हथकड़ी पहनाकर लाए गए थे । चमेली के घर में पुलिस की गाली-गलौज का शोर हुआ । जिस-तिस से पूछकर माई खबर लाई कि बंसीबारा मोहल्ले में एक लाला के यहाँ बड़ी भारी चोरी हुई है । उसी का माल निकालने के वास्ते

यहाँ पुलिस ने छापा मारा है । दो चोर शक में गिरफ्तार हैं । तीसरा लड्डन गायब था । थोड़ी देर में लड्डन के घर से गिड़गिड़ाने और चीखने-चिल्लाने की आवाजें आने लगीं । लड्डन के माँ बाप से उसका पता ठिकाना कबुलवाने के लिए पुराना सामंती हथकंडा पुलिस के द्वारा प्रयोग में लाया गया । लड्डन के पिता और मुहल्ले के अन्य पुरूषों के सामने लड्डन के घर की स्त्रियों के साथ खुलेआम बलात्कार किया गया ।....सास, बहू, बेटी, लड्डन के घर की स्त्रियों में किसी की लाज नहीं बची थी । हयादारों ने अपने-अपने मुँह छुपा लिए और बेशर्म औरतों की शर्म लूटते रहे, लुटते हुए देखते रहे ।"[1]

निर्गुन के साथ भी बसंतलाल नामक दरोगा, जो कभी पहले उसका टीचर था, अपना मुँह काला करना चाहता है । मोहन के डाकू बन जाने पर वह उसे उसके बरामद हुए गहने लौटाने के बहाने अफसरी बेगम के घर बुलवाता है । अफसरी बेगम एक शरीफ विधवा हैं जो पति की मौत बाद महाजनों के चंगुल में फंस गई थी । बसंतलाल उन्हें इस चंगुल से निकालने के बदले में उनके शरीर का उपभोग करता है । निर्गुन के पहुँचने पर वह दोनों महिलाओं को एक साथ अपने बिस्तर पर सुलाने का इरादा जाहिर करता है अफसरी बेगम तो मजबूर हैं लेकिन निर्गुन उसे शराब के नशे में धुत कराकर किसी तरह बच निकलती है । अगली बार ऐसी हरकत करते समय संयोग से मोहन

पहुँच जाता है और वह उस दरोगा को इसका मजा चखाता है ।

मेहतरों के करुण जीवन का एक और आयाम उपन्यास के पाठकों के सामने तब खुलता है जब श्रीमती निर्गुन,शर्मा के साथ भंगी कालोनी आने पर देखती है कि एक मेहतर अपनी पत्नी के सीने पर चढ़ा उसका गला दबाने जा रहा है । वे आगे बढ़कर उसके गाल पर एक जोरदार तमाचा मारती हैं और पुलिस से पकड़वाने की धमकी देते हुए उससे पूछती हैं कि क्या अपनी पत्नी को मारकर वह फांसी चढ़ना चाहता है । इस पर वह अपने जीवन की ऐसी करुण विडंबना का उल्लेख करता है जो प्रायः रोज ही अखबार के पृष्ठों पर हमें सुर्खियों की शक्ल में देखने को मिलती है । वह कहता है----

"पकड़ाती क्यों हो चच्ची ? फांसी चढवा दो, फांसी । मैं तो आप ही फांसी पे चढ़ने के लिए इस साली और इसके बेटे साले को मार डालना चाहता हूँकि कोई मुझे फांसी दे दे । अब इस दुनिया में मेरी गुजर नहीं होती । मैं मरना चाहता हूँ, मरना चाहता हूँ ।"

लेखक इस विषय पर बताता है कि----"समझाते-बुझाते यह पता चला कि 160 रूपये मेहतर की तनखा है,उसमें से सौ रूपये महाजन का कारिंदा उसकी जेब से हाथ डालकर निकाल ले गया । पच्चीस रूपये जमादार की माहवारी दस्तूरी बंधी है और पच्चीस रूपये पुराने सरकारी उधार के हर

महीने वेतन में से कट जाते है । पहली तारीख की कमाई से मन गर्म भी न हो पाया था कि यों ठण्डा हो गया । बचे-खुचे इन रुपयों में बेचारा मेहतर अपना महीना कैसे गुजारेगा ? चिन्तांत सिद्ध करने के लिए ताड़ी खाने से उम्दा और कोई जगह नहीं । वहीं उसे वेदांत उपजा कि घर - गृहस्थी ,माया-मोह,बीवी-बच्चे को मारकर मर जाऊँगा । इस धुन में वह घर आया और यह कांड हो गया ।"[1]

उपन्यास के लगभग अन्त में पत्रकार शर्मा (जिन्हे नागर जी ने भूमिका में अपना समानधर्मा कहा है) मेहतरों के जीवन पर टिप्पणी करते हुए उनकी समस्या का सारांश प्रस्तुत किया है । उनकी उसी टिप्पणी के साथ हम भी इस उपन्यास पर अपने विमर्श को समाप्त करेंगे । पत्रकार शर्मा कहते हैं--------

"मेहतरों को इस बात का भी घोर मानसिक कष्ट है कि हरिजनों में भी मेहतर वर्ग निकृष्ट कोटि का हरिजन है । उसकी

- -

1-अमृतलाल नागर, " नाच्यौ बहुत गोपाल" , पृ0-319

आवाज अभी . . . बेसुनी रह जाती है । मेहतरों में अब अधिकांश लड़के छठीं, सातवीं या आठवीं कक्षा तक पढ़े-लिखे मिल जाते है, फिर उन्हे नाना कारणों से पढ़ने की सुविधाएं नही मिलतीं और वे हताश होकर अपने वंशगत पेशे में लौट आते हैं । उनकी बोल-चाल की भाषा में अब कितने ही अंग्रेजी के शब्द घुल-मिल गये है । सवर्णों के कितनी ही पूंजीवादी घृणित आदतें भी अपना ली गई है, लेकिन सही विकास की तमाम राहें अब तक बन्द हैं । कुछ लड़के हाईस्कूल पास है, कुछ बी0 ए0 तक पहुँच गए हैं । एक भंगी चिंतामणि ...परीक्षा में बैठे --वह भी अनुसूचित जाति के रिजर्व कोटे के अंतर्गत नहीं बल्कि खुले और आम कम्पटीशन में । परीक्षा में पास हो के फर्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट तक बन गए । एक सज्जन बी0 ए0, एल0 एल0 बी0 वकील बन गए । लेकिन जब कोई मुवक्किल ही उनके पास न आया तो झख मारकर उन्हें नौकरी करनी पड़ी । जो लोग ऊँची से ऊँची दीवारों को भी फलांग कर अपनी महत्वकांक्षा की मंजिलों पर जैसे-तैसे आगे बढ़ते भी हैं, उन्हें अन्त में जाकर प्रायः चूहा का चूहा ही बन जाना पड़ता है । यह गति क्या देव निर्मित है ? नहीं, यह सामाजिक कुव्यवस्था की देन है । इसे बदलना ही होगा ।"[1]

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल" ,पृ0- 32।

(2) संघर्ष की चेतना

(1) दलितों के शान्तिपूर्ण संघर्ष का आख्यान : "महाभोज"

दलित, भूमिहीन मजदूरों और सवर्ण भूस्वामियों के बीच संघर्ष को प्रख्यात कथाकार मन्नू भंडारी ने अपने उपन्यास "महाभोज" की विषयवस्तु के रूप मे चुना है । शहर से थोड़ी दूरी पर स्थित गाँव सरोहा में चलने वाला यह संघर्ष आसन्न उपचुनाव की वजह से सत्तापक्ष और विपक्ष के बीच खेले जा रहे राजनीतिक खेल का एक हिस्सा बन जाता है जिसमें दलित फुटबाल की तरह इस पाले से उस पाले में उछाले जाते है । शासन-प्रशासन सब सत्तापक्ष के इशारे पर पहले से ही नाच रहे हैं, एक अखबार बचा था, सत्तापक्ष उसे भी कागज और विज्ञापन का लालच दिखाकर अपने पक्ष मे कर लेता है । अंततः एक ईमानदार पुलिस अधिकारी इस लड़ाई में दलितों के पक्ष से शामिल होता है जिससे भविष्य के लिए कुछ उम्मीद पैदा होती है ।

उपन्यास की शुरूआत ही सरोहा गाँव के दलितों की बस्ती में आग लगाकर अनेक लोगों को जिंदा जला देने की घटना से होतीहै। गाँव वाले जब थाने पर पहुँचते हैं तो वहाँ पता चलता है कि थानेदार छुट्टी पर है और उनके बिना आए कोई कारवाई नहीं की जा सकती ।

स्पष्ट तौर पर यह कांड भूस्वामियों और पुलिस की मिलीभगत से दवाया गया है । गाँव के लोगों को उसके बाद इतना आतंकित कर दिया जाता है कि वे जुबान खोलने से भी डरने लगते है । लेकिन यह खबर जब शहर पहुँचती है तो वहाँ से अखबारनवीसों का तांता लग जाता है । नेतागण गीली आँखों से आश्वासन देते हैं । घटना का ब्यौरा अखबारों में छपकर घर-घर पहुँचता है तो लोग सुबह की चुस्कियों के साथ देखते हैं और फिर अखबारों को कूड़े के ढेर में फेंक देते हैं ।

इतने भयानक अपराध पर हमारा सभ्य कहलाने वाला समाज इसी तरह से प्रतिक्रिया व्यक्त करता है । विरोधी दलों के नेताओं के हृदय चकनाचूर हो जाते हैं और वे सत्ता पक्ष के खिलाफ हंगामा कर देते है । उधर सत्तापक्ष के मन्त्रीगण रूंधे हुए गले से खेद प्रकट करते है और भविष्य के लिए आश्वासन देते हैं जबकि जो लोग मन्त्री बनने में असफल रहे हैं उनकी अंतरात्मा एकाएक जाग जाती है और वे मुख्यमंत्री के इस्तीफे, की माँग करते हैं। लेकिन मुख्यमंत्री भी किसी से कम नहीं हैं । उन्हें लगता है कि जब तक वे अपराधियों का पता लगवाकर उन्हें दण्डित नहीं करा देते तब तक उनकी आत्मा को चैन नहीं मिलेगा । वे अधिकारियों के हवाले,उस मामले को,करते हैं । जाँच पड़ताल के बाद दो पुलिस कान्स्टेबिलों को निलंबित कर दिया जाता है ।

इसके तुरन्त बाद सरोहा में बिसू यानी बिसेसर की लाश एक पुलिया पर पाई जाती है । बिसू शहर से बी0 ए0 तक पढ़ाई करने के बाद गाँव आकर दलितों के बीच जायज मजदूरी के सवाल पर चेतना फैलाने और उनके बच्चों को पढ़ाने की कोशिश करने वाला एक नौजवान है । उसके प्रयासों से दलितों के बीच कुछ चेतना आई है जिसको दबाने के लिए यह नरसंहार रचाया गया था, जिसका वास्तविक अपराधी है उसी गाँव का दबंग भूस्वामी जोरावर सिंह । मुख्यमन्त्री दा साहब का खास मुँहलगा होने के कारण वह छुट्टा घूम रहा है। लेकिन बिसू इस हादसे पर चुप रहने वाला नहीं है । गाँव के ही अपने साथी बिन्दा के साथ वह इस अग्निकांड का पर्दाफाश करने वाले सबूत इकट्ठा करता है । जोरावर सिंह को जब यह लगता है कि बिसू उसके लिए खतरा बन सकता है तो वह उसकी हत्या करवा देता है ।

अभिजात मानसिक चिंतन - प्रक्रिया की पोल खोलते हुए उपन्यासकार के शब्दों में,--

"अभी पहले वाली घटना से बिगड़ी हुई स्थिति पूरी तरह सम पर आयी भी नहीं थी कि यह घटना घट गयी । बिसेसर कोई ऐसी बड़ी हस्ती नहीं, न उसका मरना ही कोई ऐसी बड़ी घटना

है कि बात तुरत-फुरत शहर पहुँचे । वैसे तो जो चमार जलकर मर गये थे, वे ही कौन बड़ी तोपें थीं ? पर हंगामा तो खूब मचा ही । बिसू की लाश को लेकर भी मचेगा । आसार दिख रहे है । इस बार थानेदार ने जरा भी ढील नहीं की । तुरन्त मौके पर हाजिर । कल से कितने बयान लिये हैं....लोगों के पेट से कितना कुछ उगलवाया है । उनकी उगलन को कागजों पर पोतकर ले गये हैं । इधर लाश चीर फाड़ के लिए शहर गयी । उधर घटना की चीर-फाड़ का सिलसिला शुरू हो गया ।"[1]

सरोहा के उपचुनाव में पूर्व मुख्यमन्त्री सुकुल बाबू चनाव लड़ने की घोषणा करते हैं । उधर सत्ता-पक्ष की तरफ से मुख्यमन्त्री दा साहब के खास कार्यकर्ता लखनसिंह को टिकट मिलता है । दलितों के हत्याकांड का मामला अभी गर्म ही था कि बिसू की हत्या आग में घी साबित होती है । सुकुल बाबू इस मौके को पूरी तरह से भुनाने में जुट जाते हैं । सरोहा में उनकी मीटिंग का एलान हो जाता है। सुकुल बाबू जैसे राजनीतिक हैवीवेट के सामने सत्ता पक्ष पहले ही डगमगाया हुआ दलितों के हत्याकांड पर लीपापोती करने में जुटा हुआ था कि बिसू की हत्या ने उसके होश ही उड़ा दिए । जोरावर सिंह उनके लिए हंगामा

1- मन्नू भन्डारी , "महाभोज" , पृ०- 9

महंगा सौदा साबित होने लगता है । लखनसिंह मुख्यमन्त्री दा साहब के सामने अपने गुस्से को व्यक्त करता है------

"और यह भी सुना कि सारे गाँव में भारी तनाव है जोरावर को लेकर । उसके सिवाय कोई नहीं करवा सकता यह काम । आगजनी वाली घटना पर किसी तरह लीपा-पोती करके गाँव वालों को सँभाले हुए थे --ऊँचे स्तर पर तहकीकात हो रही है....प्रमाण जुटाये जा रहे हैं ।...असली मुजरिम का पता लगते ही कड़ी से कड़ी सजा दी जायेगी । घरेलू उद्योगों के लिए आर्थिक सहायता की योजना के मरहम ने घावों को काफी कुछ भर दिया था....इसी स्थिति में चुनाव हो जाता तो ठीक था ।"[1]

सत्ता की राजनीति के दूसरे शातिर खिलाड़ी सुकुल बाबू दस साल मुख्यमन्त्री रहने के बाद पिछले चुनाव में दा साहब से पराजित होकर बियावान में चले गए थे । यह उपचुनाव उनके लिए एक तरह से राजनीतिक पुनर्वास की तैयारी है । उनकी योजना विधानसभा में पहुँचने के बाद सत्ता पक्ष में दल-बदल कराकर अपनी सरकार बनाने की है । ऐसी स्थिति में बिसू की मौत से एक बड़ा मौका उनके हाथ लगा है जिसे वे

1-मन्नू भंडारी ,"महाभोज" ,पृ0- 13

कतई गवाँना नहीं चाहते । मीटिंग वाले दिन उनकी मानसिक सक्रियता का एक नमूना दृष्टव्य है----

"आज सारे दिन सुकुल बाबू अपनी गोटियाँ ही बिठाते रहे । शाम के भाषण में कौन-कौन से मुद्दे उठाने है....कितने वोट खोने हैं और कितने पाने हैं ? अभी तक हरिजनों के बूते पर ही चुनाव जीतते आये थे । पिछलीबार इन लोगों ने आँख फेरी तो मुँह की खानी पड़ी । पर इस बार कैसे आँख फेरेंगे । और आखिर क्यों फेरेंगे ? बिसू सारी जिन्दगी इन्हीं लोगों के लिए तो लड़ता रहा था । वे बिसू की मौत का हिसाब ही तो माँगेंगे सरकार से.....इस पर भी लोग उनके सुर में सुर नही मिलाएँगे ? जरूर मिलाएँगे । और हरिजनों का सुर मिल गया तो फिर से सुगम संगीत बजने लगेगा -- कम से कम उनकी अपनी जिन्दगी में तो ।

एकाएक उनका मन बिसू के प्रति कृतज्ञता से भर गया ।"[1]

उस दिन अपने भाषण में सुकुल बाबू सत्ता पक्ष की सारी साजिश को तार तार करके रख देते हैं । जिस बिसू को खुद उनकी सरकार ने वर्षों तक बिना मुकदमा चलाए जेल में रखाथा और कठोर यातना दी

1-मन्नू भंडारी, " महाभोज" , पृ0- 25

थी उसके संघर्ष से एकजुटता जाहिर करते हुए वे कहते हैं कि----

"क्या दोष था इन हरिजनों का ? यही न कि सरकारी रेट पर मजदूरी माँग रहे थे ? पर शायद था -- तभी तो जिन्दा जला दिये गये और जिन्होंने जलाया, उन पर कोई उँगली उठाने वाला तक नहीं। बेचारे बिसू ने ऊंगली उठाने की कोशिश की तो हमेशा के लिए चुप कर दिया गया उसे। अब होगी किसी की हिम्मत जो चूँ भी कर जाये .....आप लोग मरें या जिये, इन्हें तो चुनाव जीतना है --हर हालत में। और चुनाव जीतने के लिए गाँव के धनी किसानों के वोट भी चाहिए और पैसा भी। इसलिए अभी उनकी हर ज्यादती पर, हर अन्याय पर परदा डाला जायेगा ....उन्हें बचाया जायेगा। इसलिए अच्छी तरह जान लीजिए कि इस हत्या के लिए कुछ नहीं होने जा रहा है। कौन करेगा ? पंचायत इनकी....पुलिस इनकी, और अब तो विश्वास हो गया आपको कि सरकार भी इन्हीं की है। तब कौन लड़ेगा आपकी लड़ाई ?....आपको न्याय दिलाने के लिए... आपका हक दिलाने के लिए, कौन आएगा ?"[1]

सुकुल बाबू के ऐसे भावपूर्ण भाषण के बाद भी ग्रामीणों में कोई बहुत अनुकूल प्रतिक्रिया नही होती। सभा के एक कोने से क्षीण सी

1-मन्नू भंडारी, "महाभोज", पृ0- 29

आवाज आती है---का बताई...हमार दुख मुला कोई 'नहीं' जानत .
कि तभी सुकुल बाबू के भेजे गए लठैतों में से एक की लाठी की धमक से
उसकी आवाज डूब जाती है ।

लेकिन दा साहब ने भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं ।
वे घरेलू उद्योग योजना का ऋण अपने कार्यकर्ताओं से दलितों के घर-घर
बँटवाने लगते हैं । इस योजना के उद्घाटन के बहाने वे सरोहा में जाकर
सभा करते हैं और विसू के पिता हीरा को आदर से अपने साथ कार में
बिठाकर मंच तक लाते हैं और उसी के हाथों उद्घाटन करवाते हैं । गाँव
के लोग इसे देखकर उनकी वाह-वाह कर उठते हैं । फिर भाषण देते हुए
वे घोषणा करते हैं कि अब तक की जाँच से जितने सबूत मिले हैं उसके
मुताबिक विसू ने आत्महत्या की है । वे हत्या की बात करने वालों से
इसका प्रमाण माँगते हैं । इस पर गाँव वालों की तरफ से बिंदा कड़ा
विरोध करते हुए कहता है कि ----

"अरे दा साहब ,काहे यह नौटंकी कर रहे हो यहाँ ?
हरिजनों को जिन्दा जला दिया गया और आपकी सरकार और आपकी
पुलिस तमाशा देखती रही और महीने भर से खुद तमाशा कर रही है ।
हुआ आज तक कुछ नही ? .. प्रमाण की ऐसी की तैसी । कौन नही

जानता कि आग किसने लगवाई ? आप नहीं जानते ? फिर पकड़वाते क्यों नहीं ...अभी किसी गरीब का मामला होता तो पीसकर रख दिया जाता बेचारे को ।"[1]

लेकिन दा साहब इसे कानून के शासन का प्रश्न बना देते हैं और बिंदा की बात का जवाब देने के बहाने बिसू की हत्या की जिम्मेदारी भी, अभूतपूर्व राजनीतिक कौशल का प्रदर्शन करते हुए, सुकुल बाबू के सिर मढ़ देते है ——

"नहीं भाई, नही" । यह गरीब-अमीर का मामला नहीं , कानून का मामला है और कानून हाथ में लेने का लालच मत दो ।.... जिस बिसेसर को लेकर आपके मन में इतना रोष है, उसे क्या इसी तरह जेल में नही डालागया था । एक दो दिन के लिए भी नही, पूरे चार साल के लिए । और केवल डाला ही नही, भयकर यातनाएँ भी दी गयी थीं । .. हम लोगों ने जब उन्हें छोड़ा तो एकदम पस्त । सारी जीवन शक्ति ही निचुड़ गयी हो जैसे । कुछ भी झेलने सहने लायक नहीं छोड़ा उन्हें ।इसकी आत्महत्या के पीछे यह भी एक कारण है ।"[2]

1-मन्नू भंडारी, "महाभोज" पृ0- 66

2-मन्नू भंडारी, "महाभोज" पृ0- 67

दा साहब जनमानस बनाने के लिए अकेले सभाओं और सरकारी कार्यक्रमों पर ही नहीं निर्भर करते हैं । सुकुल बाबू की मीटिंग वाले दिन ही वे "मशाल" नामक साप्ताहिक अखबार के संपादक दत्ता बाबू से मुलाकात करते हैं और उनसे अपनी सरकार की उपलब्धियों पर चर्चा करते हैं जिनमें अखबारों से हर तरह की पाबन्दी को उठा लेना भी शामिल है । "मशाल" का अब तक का रूख वर्तमान सत्ता पक्ष का विरोधी और सुकुल बाबू की पार्टी का समर्थक रहा है । दा साहब जनतान्त्रिक उसूलों पर अपनी प्रतिबद्धता प्रदर्शित करते हुए उनके इस रूख की तारीफ करते हैं । बातचीत के दौरान दत्ता साहब के मुँह से बिसू की "हत्या" की बात निकल जाती है । इस पर दा साहब उन्हें गैरजिम्मेदाराना और सनसनीखेज पत्रकारिता के लिए आड़े हाथों लेते हैं क्योंकि सारे सबूत आत्महत्या की पुष्टि करने वाले हैं, इसके बावजूद दत्ता साहब का अखबार विरोधी दलों के राजनीतिक प्रचार का मंच बनकर इसे हत्या कह रहा है । दत्ता साहब तुरन्त संभल जाते हैं और कागज का कोटा दुगुना करवाने का आश्वासन लेकर प्रेस लौटते हैं और मशाल के लगभग तैयार अंक से बिसू की हत्या सम्बन्धी स्टोरी हटाकर दा साहब के अनुकूल रिपोर्ट छापते हैं ।

'दूसरे दिन "मशाल" का अंक आया—बिलकुल नये तेवर के साथ। हेडलाइन बिसेसर की मौत की खबर की ही थी। साथ में लम्बा वक्तव्य दिया गया था, जिससे पुलिस की अभी तक की तहकीकात के आधार पर यह संकेत दिया गया कि यह हादसा हत्या का नही, आत्महत्या का है। साथ ही दा साहब के सख्ती से दिये गये उस आदेश का हवाला भी था, जिसमें उन्होने पुलिस को गहरी छानबीन करके एक बेबाक रिपोर्ट तैयार करने की ताकीद की है।'[1]

दा साहब और सुकुल बाबू के बीच चल रहे राजनीतिक दाँव पेंच में एक नया मोड़ तब आता है जब सुकुल बाबू के लोग जोरावर सिंह को खुद चुनाव लड़ने के लिए तैयार कर लेते है। अगर वह खुद चुनाव लडता और उसके वोट दा साहब के उम्मीदवार को न मिलते तो सुकुल बाबू की जीत निश्चित थी। दा साहब यह सूचना पाते ही सावधान हो जाते हैं और जोरावर सिंह से सम्बन्धित फाइल के आधार पर उसे अपने शिकंजे से न छूटने देने के लिए ब्लैकमेल करने की पूरी तैयारी करके घर आने पर उसकी खूब आवभगत करते हैं। सिद्धान्तवादी कहे जाने वाले दा साहब यहाँ अपना

1-मन्नू भंडारी, "महाभोज" पृ0- 45

मुखौटा उतार कर इशारों -इशारों में ही उसके अपराधों और पुलिस की फाइल की बात करके उसका हौसला पस्त कर देते है । दोनों के बीच हुए संवाद में दा साहब के बहाने भारत के राजनीतिक नेताओं की मक्कारी और दलितों के मामलों में गंभीर संवेदनहीनता की पोल खोलने वाला यह अंश खास तौर पर दृष्टव्य है। दा साहब कहते है -----

"तुमने यह अच्छा नहीं किया । एक परेशानी से जैसे-तैसे उबरने की कोशिश कर रहे थे कि....."

"क्या किया हमने ?" ललाट पर तीन सलवटें डालकर कड़क आवाज में पूछा उसने ।

"मैं बिसू की बात कर रहा हूँ ।"

"सो हम भी समझ रहे हैं । पर हमारा उससे क्या लेना देना ?

दा साहब एकटक देखते रहे जोरावर को ...फिर बहुत ही सख्त आवाज में बोले,"यह मत भूलो कि पुलिस और कानून के हाथ बहुत लम्बे होते हैं और आँखें काफी तेज । न देखें तो हाथी तक को न देखें, पर

उतर आये तो फिर चींटी तक भी नहीं बच सकती—न नजर से न गिरफ्त से ।

बने बनाए साँचों में सपाट गति से चलती हुई कथा में थोड़ा व्यतिक्रम तब उपस्थित होता है जब दा साहब के वायदे के अनुसार बिसू के मामले में दुबारा जांच के लिए भेजे गए पुलिस अफसर एस0 पी0 सक्सेना जाँच के नाम पर फर्जी टकोसला करने को तैयार नहीं होते और सचमुच मामले की तह तक जाकर बिसू की हत्या में जोरावर का हाथ होने का पक्का सबूत जुटा लेते हैं और इस आधार पर अपनी रिपोर्ट भी दे देते हैं । इस रिपोर्ट के आधार पर जोरावर को काबू में कर लेने के बाद दा साहब डी0 आई0 जी0 सिन्हा को बुलाकर उनसे सक्सेना की शिकायत करते हैं और उनसे एक दूसरी रिपोर्ट तैयार करने को कहते हैं । पक्के चाटुकार अधिकारी डी0 आई0 जी0 सिंहा दा साहब के पुराने स्टैंड के मुताबिक बिसू की आत्महत्या की मनगढ़न्त रिपोर्ट तैयार करते हैं लेकिन अब दा साहब इतने से संतुष्ट नहीं हैं । अब उन्हें बिन्दा का सिर चाहिए क्योंकि उसका आक्रोश और उसकी सक्रियता की वजह से ही एस0 पी0 सिन्हा इस मामले की तह तक पहुँचने में कामयाब हुए थे । दा साहब एक तीर से दो शिकार करते हैं---

"चतुर अपराधी ही सबसे अधिक आक्रामक मुद्रा अपनाता है । कभी - कभी ।" दा साहब एक क्षण को रुके और सीधे ही कहा ----

"घटनावाले दिन बिन्दा का गाँव से अनुपस्थित होना और घटना के बाद उसका अतिरिक्त रूप से आक्रामक रवैया ! सन्देह के लिए बहुत गुंजाइश नहीं रह जाती । .....आश्चर्य है, सक्सेना या आपको यह बात सूझी तक नहीं । खैर एक बार फिर सारे मामले पर नजर डालिए –खुले दिमाग और पैनी नजर से । मुझे बिसू के हत्यारे को पकड़ना है ....वचन दिया है मैंने गाँव वालों को और अब आप पर छोड़ रहा हूँ यह काम..।"[1]

बिन्दा बिसू के गाँव की लड़की रूक्मा का पति है । पहले वह शहर में रहकर नौकरी करता था मगर रूक्मा के पिता की मौत के बाद यहीं आकर रहने लगा । जेल से छूटने के बाद पिछले आठ महीनों में बिसू से उसकी अंतरंगता स्थापित हो जाती है । एस0 पी0 सक्सेना को दिए बयान में वह बताता है कि जिस रात बिसू को मारा गया उसने बिन्दा के साथ ही खाना खाया था और उससे झगड़ा भी किया था । सक्सेना द्वारा झगड़े का कारण पूछने पर वह कहता है ---

"दिल्ली चलने के लिए । जब से उसने आगजनी की घटना के प्रमाण जुटाए, वह पागलों की तरह पीछे पड़ा हुआ था दिल्ली चलने के लिए । मैं यही कहता था कि अब कुछ नहीं होने का....जब सरकार ही

- - - - - - - - - - - - - - - - -

1-मन्नू भंडारी, "महाभोज" पृ0-144

सारी बात को दाब-ढाँक रही है तो मेरे-तेरे भाग-दौड़ करने से क्या होगा ? जैसी यहाँ की सरकार वैसी दिल्ली की सरकार ।...बस एक ही धुन थी उसकी, जब तक असली मुजरिम को नही पकड़वा दूँगा, मैं चैन से नहीं सो सकूँगा ।"[1]

"अरे अब का बताई, सरकार ... बस बचपना रहा हमार बिसुआ का । ऊ सरकार, खेत पर काम करै वाले मजूरन से कहत रहा कि इत्ती कम मजूरी पै काम ना करौ । मजूरी बढ़ावै की खातिर लड़ौ । बेगारी न करौ -- उधारी पै इत्ता-इत्ता सूदौ न देव । येई सब ऊ लोगन का बुरा लगत रहा सरकार ।....जब से हरिजन टोला मा आगजनी भई न सरकार .....तब से ऊ काहू से लड़बौ नाही करा । बस भीतरै-भीतर कलपत रहा । बहुत रोवा रहा उइ दिन ।"[2] बिसू के पिता का बयान।

सरोहा में उन दिनों एक शोध छात्र महेश शर्मा भी रहता था जिसकी बिसेसर से दोस्ती थी । एस0 पी0 सक्सेना उससे भी बयान लेता है । उसके बयान से बिसू के संघर्ष का सैद्धान्तिक पक्ष स्पष्टता के साथ सामने आता है । दोनों के वार्तालाप का एक अंश दृष्टव्य है ---

- -

1-मन्नू भंडारी, "महाभोज" पृ0-119

2-मन्नू भंडारी, "महाभोज" पृ0-105

"मेरा प्रश्न अभी भी वही है, मिस्टर महेश । किस बात को लेकर परेशान रहता था बिसू ?"

"वैसे तो इस पूरे सेट-अप को लेकर ही वह परेशान रहता था, पर पिछले महीने आगजनी की जो घटना घटी, उसने तो उसे बिलकुल ही बौखला दिया । ही वाज नाट इन हिज प्रापर सेन्सिज ।....उसका कहना था कि पूरे का पूरा मामला जान-बूझकर दबा दिया गया है । झूठी तसल्ली देने के लिए बेचारे कांस्टेबिल को सस्पेंड कर दिया गया । मामूली जुर्म करने वाला सजा पा गया और असली मुजरिम के खिलाफ कुछ नहीं....कभी कुछ होगा भी नहीं । एक क्षण ठहरकर बात पूरी की महेश ने, "बस इसी को लेकर वह तिलमिलाता रहता था । उसका कहना था--वह थोड़े से आदमियों के मरने भर की ही बात नहीं है, महेश बाबू....समझ लीजिए कि पूरी की पूरी बस्ती का हौसला ही मर गया । आठ महीनों तक रात दिन समझा-समझाकर इस लायक बनाया था कि छाती ठोंककर अपना हक माँग सकें ..... अब बहुत दिनों तक ये लोग अपने हक के लिए लड़ने का हौसला नहीं जुटा पायेंगे ।"

"लड़का नक्सली था ?"

"नहीं नक्सलियों की तो आलोचना करता था । उनके काम करने के तरीके को वह गलत मानता था । "

"क्यों सुना है, हरिजनों और खेत मजदूरों को मालिकों के खिलाफ भड़काया करता था । नक्सली भी तो यही सब करते है । "

"भड़काया नहीं करता था, सर....उन्हें केवल अवेयर करता था अपने अधिकारों के लिए । जैसे सरकार ने जो मजदूरी तय कर दी है वह जरूर लो..... नहीं दें तो काम मत करो । पर झगड़ा - फसाद या मार पीट के लिए वह कभी नहीं कहता था । " फिर एक क्षण रूककर बोला,"इसी बात में वह शायद नक्सलियों से अलग भी था ।"[1]

बिसू भले ही दलितों ,मजदूरों को अहिंसक संघर्ष के लिए संगठित करे मगर भारत की लोकतान्त्रिक व्यवस्था उसके जैसे लोगों से हिंसक तरीके से ही पेश आती है । वह भले ही नक्सलियों की आलोचना करे लेकिन उसके जैसे भले और निर्दोष व्यक्ति को जेल में डालकर बर्बर दमन ढाने के लिए उसके नक्सली होने का झूठा - साच्चा बहाना ही पर्याप्त है । इसका सबूत तब मिलता है जब बिसू को जेल में डालने का कारण एस0 पी0 सक्सेना को सरोहा का थानेदार यह बताता है कि वह नक्सली था ।

1-मन्नू भंडारी , " महाभोज" , पृ0-90

बिन्दा को बिसू की हत्या के आरोप में जेल में डाल दिया जाता है । आरोप स्वीकार करने के लिए उसकी बेतहाशा पिटाई होती है लेकिन वह यही कहता रहता है कि "तुमने बिसू को मार डाला, मुझे भी मार डालो, लेकिन देखना बिसू की इच्छा को कोई नहीं मार सकता ।"[1]

उपन्यास के अन्त में एस0 पी0 सक्सेना को, जिनका तबादला कर दिया गया है, बिन्दा की पत्नी रूक्मा के साथ आगजनी के सारे सबूतों को लेकर रेलगाड़ी में सफर करते दिखाया गया है । रूक्मा को सक्सेना की आवाज एकाएक बिन्दा जैसी लगती है । आशय यह है कि इस लड़ाई में बिन्दा की जगह सक्सेना ने ले ली है और लड़ाई जारी है ।

1-मन्नू भंडारी, "महाभोज" , पृ0-159

2-§1.1§ एक टुकड़ा इतिहास : दलितों के जुझारू संघर्ष की कथा

प्रसिद्ध उपन्यासकार गोपाल उपाध्याय कृत "एक टुकड़ा इतिहास" एक दलित युवती चुनुली उर्फ चन्दी देवी के जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया है । युवावस्था में चुनुली एक ब्राह्मण युवक कान्तमणि के प्रेम में पड़कर उसके घर चली आती है । दोनों को पता है कि कान्तमणि की बिरादरी उनके संबंध को स्वीकार नहीं करेगी लेकिन कान्तमणि चुनुली के साथ जीवन बिताने के लिए जात-बिरादरी को छोड़ने पर तुला हुआ है । उनके यहाँ,कुछ समय बाद,एक बेटा पैदा होता है जिसका नाम वे रत्नमणि रखते है ।

कान्तमणि का जाति-बिरादरी वालों ने बहिष्कार कर रखा है । कोई उनका छुआ पानी नहीं पीता ,न उनसे सीधे मुँह बात करता है । बात-बात पर कान्तमणि को ताने दिए जाते हैं । कान्तमणि एक बार चुनुली से गाँव छोड़कर कहीं दूर चलने के लिए कहता है ताकि वे दोनों इस अपमानजनक स्थिति से बच सकें मगर चुनुली इसके लिए तैयार नहीं होती है । आखिर एक दिन कान्तमणि उसे बताता है कि जाति के अग्रणी लोगों ने उनके मामले पर विचार करने के लिए पंचायत रखी है जिसमें उनका बहिष्कार वापस ले लिए जाने की उम्मीद है । चुनुली बहुत

खुश होती है । लेकिन ऐसा नही हो पाता । पंचायत मे एक दो लोग उनसे सहानुभूति रखने वाले जरूर है लेकिन उनकी चल नहीं पाती । बिरादरी में वापस लेने के लिए कान्तमणि के सामने शर्त रखी जाती है कि वह चनुली और उसके बेटे रतन को घर से निकाल दे । कान्तमणि उनकी बात मानकर चनुली को रतन के साथ बहुत अपमानजनक तरीके से घर से बाहर निकाल देता है । चनुली अपने हक की मांग के लिए पंचायत बुलाती है लेकिन शादी के लिए कोई प्रमाण न दे पाने की वजह से पंचायत उसे कान्तमणि की पत्नी मानने से इंकार कर देती है ।

घर से निकलने के बाद इधर-उधर ठोकर खाते-खाते गाँव के एक भलेमानस नरदेव जी के गोठ मे उसे शरण मिलती है और रतन स्कूल जाने लगता है । रतन के मास्टर जौहर सिंह से वह कहती है --

"मैं तो इसे मर खप कर पूरी शिक्षा दिलाऊँगी । एम० ए० कराकर इसे वकील बनाऊँगी ताकि कानुका के हाथ मे यह बेड़ियाँ डालकर उसे जेल मे ठुसवा दे ।"[1]

एक दिन वह रतन को नरदेव जी के पास छोड़कर न्याय की तलाश में अपने यहाँ के विधायक नेताराम जी से मिलने के लिए अल्मोड़ा

1-गोपाल उपाध्याय, " एक टुकड़ा इतिहास" , पृ0-80

शहर के कांग्रेस दफ्तर पहुँचती है । वहाँ नेताराम जी तो नही मिले लेकिन उसकी मुलाकात जिले के प्रख्यात हरिजन नेता मुंशीराम जी से होती है । उसकी कहानी सुनने के बाद और उसकी योग्यता को देखकर वे उसे हरिजनों में चेतना का प्रसार करने के लिए हरिजन सेवक कार्यालय में रख लेते हैं और सौ रुपये प्रतिमाह भत्ता निश्चित कर देते हैं । वहीं से हरिजन नेत्री चन्दी देवी के रूप में उसकी एक नई भूमिका प्रारम्भ होती है ।

धीरे-धीरे चन्दी देवी अल्मोड़ा और आस-पास के जिलों की विख्यात नेत्री हो जाती है । लोकप्रियता के मामले में वह अपने गुरू मुंशीराम जी को भी पीछे छोड़ देती है ।

दलितों में चेतना लाने के लिए वह अनेक आन्दोलन चलाती है । अपने विधानसभा क्षेत्र से नेताराम जी के खिलाफ वह चुनाव भी लड़ती है और महज एक सौ आठ वोट से हारती है । कान्तमणि मरते समय उसे अपनी पत्नी स्वीकार कर लेता है । चन्दी देवी की मौत कैंसर से होती है । उसके मरने के बाद उसका बेटा रतन उसके सपनों को पूरा करने का संकेत देता है ।

चन्दी देवी के आन्दोलन से सारे जिले के दलितों में जोश

और उत्साह की नई लहर दौड़ पड़ती है । गाँव-गाँव, चप्पा-चप्पा घूमकर वह उनकी छोटी-छोटी बैठकें करती है । उन्हें वह सब काम छोड़ देने को कहती है जो सवर्ण नहीं करते सिर्फ वही करते है । जैसे मुर्गी पालना, शादी, ब्याह, मेलों में बाजा बजाना, पालकी ढोना, कोल्हू चलाना, लुहारगिरी का काम, कम्बल बुनने का काम और रस्सी बटने का काम । सबसे बढ़कर भैंसों का मांस खाने को मना करती है । उसका कहना है कि इन कामों में कोई बुराई नहीं है मगर हमें सवर्णों की इस भावना को तोड़ना है कि दलितों के हिस्से में सिर्फ वही काम आए हैं जो सवर्ण नहीं करते ।

चन्दी देवी के इस प्रचार का पर्याप्त असर होता है । वह रात-रात भर दलितों को संगठित करने के लिए उनकी छोटी-छोटी बैठकें करती है। देखते-देखते वे हर ऐसा काम छोड़ देते हैं जो सवर्ण नहीं करते थे। सिर्फ वही करते थे । उन्हे डराया धमकाया जाता है मगर वे अडिग रहते हैं ।

दलितों के अन्दर स्वाभिमान जगा लेने और उन्हे संगठित कर लेने के बाद चन्दी देवी एक ऐसा नारा देती है जिसे डिसक्रिमिनेशन के नाम से आज अमेरिका समेत तमाम विकसित देशों में स्वीकार किया जाता है । "[1]

1- मस्तराम कपूर, "हरिजन से दलित" पृ० 111

वह कहती है -- "आप लोग भी बीठों (सवर्णों) का छुआ-पकाया न खाइए । ऐसा क्यों होता है कि वह जूठन देते है और आप आंचल फैलाकर समेट लेते हैं । अलग रसोई लगाइए अपनी और ब्राह्मणों की तरह का आचरण आप भी खान-पान के मामले में कीजिए ।"[1]

दलितों में इस अभियान से जागृति और आत्मसम्मान की नई चेतना पैदा होती है । इसके बाद चन्दी देवी पूरे जिले के मन्दिरों में दलितों के प्रवेश का आन्दोलन शुरू करती है । मुंशीराम जी वातावरण को देखते हुए आन्दोलन को इतना आक्रामक बनाना उचित नहीं समझते लेकिन चन्दी देवी के आग्रह के सामने उनको झुकना पड़ता है । मुंशीराम जी के नेतृत्व में दलित नंदादेवी के मन्दिर में प्रवेश करने की कोशिश करते हैं । उन्हें बुरी तरह से मारकर घायल कर दिया जाता है । चन्दी देवी सैकड़ों दलितों के साथ शिवमन्दिर में घुसने की कोशिश करती है । सवर्णों का प्रबल आक्रमण होता है । वे चन्दी देवी का पांव पकड़कर उसे घसीटते हुए मैदान में लाते है और चारों तरफ घसीटते हैं । पूरे जिले में जगह-जगह मन्दिरों में घुसने की कोशिश करने के कारण दलितों की जमकर पिटाई होती है ।

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास" , पृ0-93

चुनाव हार जाने के बाद वह अपने गाँव लौटकर बच्चों की शिक्षा के लिए "समता आश्रम" नामक एक केन्द्र खोलती है । इसमें वह दलितों के साथ - साथ सवर्णों के बच्चों को पढ़ने के लिए आमन्त्रित करती है मगर वे नही आते । गाँव के प्रभावशाली लोगों को यह आश्रम बुरी तरह से चुभता है जहाँ दलितों के बच्चे उनके बच्चों से अधिक साफ-सुथरे रहते हैं और अच्छी शिक्षा ग्रहण करते हैं । वे एस0 डी0 एम0 का समता आश्रम को जमीन अलाट करने का आदेश रद्द करवाकर अदालत से बेदखली का निर्णय करवा लेते है और "समता आश्रम" में आग लगा देते हैं । चन्दी देवी बच्चों को लेकर तो सुरक्षित स्थान पर पहुँच जाती है मगर उसकी वर्षों की मेहनत का परिणाम यह आश्रम जलकर खाक हो जाता है । लेकिन वह हिम्मत नहीं हारती और दुबारा आश्रम की स्थापना करती है ।

कांग्रेस छोड़कर चन्दी देवी प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की नेता बनती है । उसका कार्यक्षेत्र अब जिले से बढ़कर गढ़वाल मंडल तक स्थापित हो गया है । आश्रम अपनी सहयोगिनी चंचला पर छोड़कर वह स्वयं गाँव-गाँव के दौरे पर निकल पड़ती है । चार-पाँच महीने के अन्दर वह अल्मोड़ा-गढ़वाल ,टिहरी और नैनीताल में जिला व तहसील स्तर की कमेटियाँ

बना डालती है । वहीं उसका परिचय कम्युनिस्ट कार्यकर्ता नौटियाल से होता है जिससे वह बहुत प्रभावित होती है ।

"टिहरी में कम्युनिस्ट नेता, नेता से भी अधिक जनता के अपने कार्यकर्ता नौटियाल से परिचय हुआ और परिचय प्रगाढ़ हो गया । चन्दी देवी ने जैसे एक बार पहले से भी तेज अलख जगा दी थी । हरिजन और समाजवाद । चन्दी देवी के दो नारे थे । हरिजनों का उद्धार और जनता के लिए समाजवाद । अभी तक चन्दी देवी सिर्फ अल्मोड़ा जिले की थी और वह भी महज हरिजनों की । मगर अब वह अल्मोड़ा, नैनीताल, गढ़वाल, टिहरी गढ़वाल की नेता हो गयी थी, वह भी केवल हरिजनों की ही नहीं, सारी गरीब पीड़ित जनता की । अब वह हरिजनों की उद्धारक भी थी और समता, समानता, समाजवाद लाने वाली भी थी ।"[1]

एक बार फिर चन्दी देवी दलितों के मन्दिर प्रवेश का आन्दोलन शुरू करती है । नौटियाल और उसके कार्यकर्ता इसमें मदद करते हैं। सवर्ण एक - एक दलित को कालर और बांह पकड़-पकड़ कर धमकाने और भगाने लगते हैं । चन्दी देवी भाषण करती है ----

---

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास" , पृ0-200

"बीठों के जिन्दगी भर गुलाम रहोगे क्या ? खरीद रखा है क्या उन्होंने तुम्हें ? इंसान हो, आखिर इनसे इस कदर डरते क्यों हो ? अरे अपने खेतों पर तुम्हें काम करने ही तो नही आने देंगे । कोई और मजदूरी कर लोगे भैया । भूखों नहीं मरोगे । इनके शादी-ब्याह के डोले नहीं उठाओगे तो मर नही जाओगे । हिम्मत रखो । देश हमारा इतनी बड़ी हुकूमत के शिकंजे से छूट गया जिनके राज्य में कभी सूरज ही नहीं छिपता था । तब क्या तुम इन बीठों की गुलामी से लड़ने की हिम्मत नहीं कर पा रहे हो ।"[1]

नौटियाल कहता है--- "तो डूम §दलित§ भाइयों ! अपने को पहचानो । ढोंगियों और बड़े लोगों के दलालों से कब तक डरोगे । इनके रहते ऐसा समय कभी नहीं आएगा कि तुम मन्दिरों में बुलाए जाओगे । हिला दो इन बड़े लोगों की चूलें । अपना हक तुम खुद लो । छीनकर लो । तुम्हें देने कोई नहीं आएगा । रूस की सताई हुई गरीब जनता को जार ने उनके घर जाकर उन्हें हक नहीं दिया था । लड़कर, मरकर लेनिन की अगवाई में अपना हक उन्होंने अपने खून से धोकर हासिल किया । कब तक सोओगे ।

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास" , पृ0-205

कब तक खोओगे । इंसानों-जानवरों की जिंदगी कब तक जीते रहोगे ."[1]

शांति भंग करने, दफा एक सौ चवालीस तोड़ने तथा बलवाबाजी करने की धाराओं में उन पर मकदमे चलते है । चन्दी देवी को जेल होती है । जहाँ आचार्य नरेन्द्र देव उससे मिलने आते हैं । जेल से छूटने के बाद चन्दीदेवी पार्टी के प्रति उदासीन हो जाती है।पार्टी दो टुकड़े हो चुकी है । लोहिया ने संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी बना ली । जय प्रकाश भूदान आन्दोलन में चले गए । आचार्य नरेन्द्र देव की वजह से कुछ लोग पार्टी में बचे है लेकिन चंदी देवी पार्टी छोड़ने का मन बनाती है ।

मन्दिरों में दलितों के प्रवेश के आन्दोलन को चरम पर पहुँचाते हुए चंदी देवी हजारों की तादाद में दलितों के साथ शिवरात्रि के दिन शिव मन्दिर की तरफ बढ़ती है । मन्दिर की तरफ से उन पर हजारों कंकड़-पत्थर पड़ने लगते है । पुलिस भी उन्हें रोकती है ।नौटियाल वेश बदल कर वहाँ पहुँच जाता है और दलितों को उत्साहित करता है कि तभी उसे एक पत्थर लगता है और वह घायल होकर गिर पड़ता है । चंदी को भी लाठियों से पीटा जाता है । दोनों को जेल भेज दिया जाता है । जेल में चंदी देवी की हालत गंभीर हो जाती है । लगभग डेढ साल बाद उसे सरकार

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास" ,पृ0-207

इस डर से रिहा कर देती है कि कहीं जेल में ही उसकी मृत्यु न हो जाय। चंदी देवी के पेट में कैंसर हो गया है। जेल से छूटने के 6 महीने के अन्दर उसकी मृत्यु हो जाती है।

कबीर की मौत के बारे में कथा है कि उनकी मौत के बाद उनके अन्तिम संस्कार के स्वरूप को लेकर उनके हिन्दू और मुसलमान अनुनाइयों में विवाद हो गया था। दलित की बेटी और सवर्ण की पत्नी चंदी देवी की मौत के बाद भी कुछ ऐसा ही विवाद होता है। अन्तर बस यह है कि कबीर के दोनों धर्मों के अनुयायी अपने-अपने रिवाज के मुताबिक कबीर का अन्तिम संस्कार करना चाहते थे और चंदी देवी की मृत्यु के बाद दलित और सवर्ण दोनों में से कोई उसे अपना मानने को तैयार नहीं था। इस मोड़ पर उपन्यास अत्यन्त यथार्थवादी हो गया है। जीवन भर दलितों और सवर्णों को एक करने की कोशिश करने वाली चंदी देवी के अवसान के बाद उपजी इस भयानक विडंबनाका वर्णन दृष्टव्य है----

"रतनियाँ रे। आवाज लगी कि ब्राह्मण बाखली के कान्तमणि की बीवी चुनुली मर गई है, तो हम डूमों को कार देने जाने का कोई हक भी नहीं है।"

"बीठों का हाल क्या पूछते हो । जिन्दगी भर जो डूमों के लिए लड़ती, खपती रही और उन्हीं के लिए मरी, वह डूम जब उसके लिए ऐसा कहेंगे तो क्या बीठ उसकी लाश को कंधा देंगे ? " रतन चिढ़ी आवाज में बोला । पास खड़े हरीराम ने कहा, "बात बुरा मानने की नहीं है । चंदी देवी कहती थी कि बीठों के ऐसे किसी मामले में जहाँ डूमों की मदद की जरूरत हो, तुम भगवान की कसम खा लो कि तुम कितने भी दुख सहकर नहीं जाओगे । सो बेचारी आज स्वर्ग चली गई है । उसकी बात हम भूलेंगे नहीं । चनुली बीठ है तो हम उसकी मिट्टी को कंधा न देंगे, न उसे कार देंगे । "

\- - - -

"हमारा फैसला है कि लुहार की लड़की को हम कार नहीं दे सकते, न कंधा दे सकते हैं । जिन डूमों के लिए जिन्दगी भर वह लड़ती रही है वह आकर उठावें न उसकी लाश ।" मनीराम ने पूरे जोर से चिल्लाकर कहा ताकि सब घरों में बैठे लोग भी सुन लें ।[1]

चंदी देवी अपने जीवन में अपने संघर्ष में असफल हो गई । उपन्यासकार का विचार है कि आने वाली पीढ़ी उसके सपनों

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास" पृ0-269

को सच करेगी । रतन कहता है--"कहानी खत्म नहीं हो गई बाबा । कहानी तो अब शुरू होने को है । माँ ने अपने देश के लिए जो सपने गढ़े थे वह सही नही थे, मेरे लिए, मेरी उमर के लड़को के लिए, देश के लिए और इन बच्चों के भविष्य के लिए जो सपने गढ़े थे वह सही थे ।"[1]

संघर्ष के रूप को लेकर भी इस उपन्यास पर बहस हो सकती है । चंदी देवी हिन्सक आंदोलन का पक्ष नही लेती लेकिन अहिंसक आंदोलन की व्यर्थता को भी स्वीकार करती है । समाजवादी आंदोलन के एक कार्यकर्ता रमेश से बातचीत के दौरान वह इस मामले में अपने विचारों को व्यक्त करती है --

"रमेश कहता है ---"आप लोग जिस तरह से हरिजनों को बढ़ाना चाहते है उसका नतीजा आप और हमारे देश के नेता शायद समझ नहीं रहे है कि आगे चलकर तो होगा वर्ग संघर्ष हरिजनों और सवर्णों का---गरीब व अमीर का नही । क्या उस वर्ग संघर्ष के लिए आप तैयार है ?"

"मै हूँ ।" चंदी देवी ने पूरी गंभीरता से कहा । मै तो चाहती हूँ कि हरिजन आज ही इस वर्ग संघर्ष को शुरू करें । इस देश में गरीब-अमीर का संघर्ष तो जब होगा तब होगा,पहले पीड़ित और पीड़क के बीच संघर्ष होना जरूरी है ।

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास" पृ0-27।

"और क्या वह संघर्ष खूनी तरीके से होना चाहिए ?"

"नहीं । मगर हाँ, गाँधी जी के तरीके से भी नही ।

"खूनी तरीके से तो वह संघर्ष, तुम आज मानो या न मानो, सवर्णों के पक्ष में ही जावेगा । क्योंकि उनकी संख्या हरिजनों से आज कई गुनी ज्यादा है ।" रमेश ने कहते हुए ठंडक के कारण पाँव चारपाई पर समेट लिए ।

"इसीलिए तो मैं हरिजनों को वर्ग संघर्ष के लिए नहीं कहती । गाँधी जी के शान्ति आन्दोलन का तरीका अपनाती हूँ — कायरों, डरपोकों और कमजोरों वाला तरीका । हालांकि मैं जानती हूँ कि यह तरीका भी कारगर नहीं होगा ।" चंदी देवी ने बड़े उदास स्वर में कहा ।"[1]

अन्त में प्रख्यात समीक्षक नवीन जोशी के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ,"एक टुकड़ा इतिहास" अपने समय की सच्चाइयों से रूबरू है, सवाल उठाता है और लड़ता है । वह प्रमुख रूप से दलित संघर्ष की कथा है ।"[2]

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास" ,पृ0-223

2-नवीन जोशी , "उत्तर प्रदेश" मार्च-98 , पृ0-48

अध्याय-5

दलित चेतना की विशिष्टता

दलितों का जीवन समाज के अन्य तबकों के जीवन से सर्वथा भिन्न और प्राय: उनकी विरोधी परिस्थितियों के बीच गुजरता है । उनकी स्मृति, उनके संस्कार, उनके मूल्य और उनकी चेतना तदनुसार अलग रूप ग्रहण करती है । आज के प्रख्यात दलित लेखक कवल भारती की एक कविता दृष्टव्य है जो इसी अन्तर पर उंगली रखती है ---

'यदि धर्मसूत्रों में लिखा होता
तुम ब्राहमणों, ठाकुरों और वैश्यों के लिए
विद्या, वेद-पाठ और यज्ञ निषिद्ध है ।
यदि तुम सुन लो वेद का एक भी शब्द
तो कानों में डाल दिया जाय पिघला शीशा
यदि वेद-विद्या पढ़ने की करो धृष्टता,
तो काट दी जाय तुम्हारी जिह्वा,
यदि यज्ञ करने का करो दुस्साहस
तो छीन ली जाय तुम्हारी धन-सम्पत्ति,
या कत्ल कर दिया जाय तुम्हें उसी स्थान पर
तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?

× × × ×

यदि रामायण में राम
तपस्वी धर्मनिष्ठ ब्राहमणों का करते कत्लेआम
तुलसी दास मानस में लिखते

पूजिए सूद्र सील गुन हीना ।
विप्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना ।।
तब, तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?¹

दलित चेतना से युक्त कथा साहित्य भी इस भिन्नता की पहचान करता है । इस साहित्य में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं जो दूसरे प्रकार के श्रेष्ठ साहित्य से भी सर्वथा अलग या विपरीत हैं । हम यहाँ ऐसे कुछ चुनिन्दा मुद्दों पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे ।

§1§ शहर की भूमिका

दलित चेतना के प्रतिनिधि उपन्यास "धरती धन न अपना" में एक प्रसंग है जब उसका नायक काली अपनी बीमार चाची के लिए दूध की तलाश में भटकता है । वह शहर से आया है और उसके पास रूपये भी है लेकिन गाँव में दलित जिस घर में नौकरी करते हैं वहाँ से दूध मांग तो सकते हैं लेकिन दलितों को दूध बेचना लोग अपना अपमान समझते हैं । वह किसी घर का मजदूर भी नहीं है इसलिए उसे दूध नहीं मिल पाता । वह अपनी समस्या छज्जूशाह से कहता है ।

"शाहजी आपकी बात ठीक है । इस शरीर के साथ दुख-सुख बने ही है । मैं आपसे यह बेनती करना चाहता था कि कहीं से पाओ-आधा सेर

1- कंवल भारती - "तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती" - पृ0-40

दूध का बन्दोबस्त करा दें । सवेरे चौधरी मुंशी के घर से मांग लाया हूँ...कहने लगी कि अपने चमार की हाजत पूरी करनी ही पड़ती है । हर एक कमीन को दूध तो क्या लस्सी देना भी मुश्किल है ।"

"बात तो उसकी ठीक है ,कालीदास ।सटावगन तो कोई लगा नहीं सकता । कहने को कोई कुछ भी कहे लेकिन यह बात पक्की है कि आदमी उसके हाथ पर ही चीज रखेगा जिससे उसे या तो कोई लाभ हो या उसके साथ कोई रिश्ता हो । बाकी रहा पाओ-आधा पाओ दूध खरीदने का सवाल...।" कहकर छज्जूशाह सोच में डूब गया । फिर गली में जाते हुए एक आदमी को आवाज देकर बोला, "हरीसिंह । चौधरी,तू बड़ा बेलिहाज होता जा रहा है ।" छज्जूशाह ने हंसते हुए कहा ।

हरीसिंह उसकी दुकान की ओर मुड़ता हुआ बोला, "शाहजी, बात बेलिहाजी की नहीं है। हवेली जा रहा था,भैंस और बैल को पट्ठा-दत्था डालना है । बुआ दित्ते की माँ कल से मैके गयी हुई है ।"

"चौधरी इसे जानते हो ?"छज्जू शाह ने काली की ओर संकेत करते हुए पूछा ।

"क्यों नही जानता । यह काली है,मारखे चमार का लड़का ।" हरीसिंह ने उत्तर दिया ।

"इसकी चाची बीमार है । इसे दूध की जरूरत है ।"

छज्जू शाह की बात सुनकर हरीसिंह भड़क उठा, "शाह तेरी अक्ल ठिकाने है कि नहीं ? गरीब हूँ तो क्या हुआ चौधरी तो हूँ । चमार के हाथ दूध बेचूँगा तो गाँववाले क्या कहेंगे ?"[1]

परंपरागत रूप से हिन्दी कथा-साहित्य में शहर की भूमिका नकारात्मक रही है । "नगरीकरण और औद्योगीकरण के कारण जीवन पद्धतियों में व्यापक धरातल पर उलटफेर हुए हैं और यंत्र सभ्यता के दबावों को हर संवेदनशील व्यक्ति महसूस कर रहा है ।"[2] शहर जाने के बाद प्रेमिकाओं के प्रेमी बदल जाते हैं ,पत्नियों के पति किसी और के प्रेमजाल में फंस जाते हैं और बूढ़े माँ-बाप के बच्चे स्वार्थी और आत्मकेन्द्रित हो जाते हैं । "गोदान" के गोबर से लेकर युवा लेखक अखिलेश की बहुचर्चित कहानी "जल डमरूमध्य" के बेटे-बहू और यहाँ तक कि उनके छोटे-छोटे बच्चों तक की यही कथा है । इसी पीड़ा के चलते "बिदेसिया" जैसे लोकनाट्य का जन्म होता है । संक्षेप में हिन्दी कथा-साहित्य में गाँव-शहर का द्वन्द्व लगभग वैसा ही है जैसा कि भारतीय राजनीति में अछूतों के रहन-सहन

1-जगदीश चन्द - "धरती धन न अपना" पृ0- 165

2-नरेन्द्र मोहन -हिन्दी कहानी, दो दशक की यात्रा, सं. रामदरश मिश्र, पृ0-36

और आवास का जितना निम्न स्तर गाँवों में है,उतना ही शहरों में भी ।"[1]
लेकिन आश्चर्यजनक रूप से दलित चेतना से सम्पृक्त कथा-साहित्य में यह स्थिति
उलटी है । वहाँ गाँवों में रिश्तों की ऊष्मा की पहचान तो है लेकिन प्राय:
ऊष्मा बंधन के रूप में सामने आती है । मार्कण्डेय की कहानी"बीच के लोग" में
जब बुझावन लुट-पिट जाने के बाद भी अपने जमींदार फऊदी दादा की नातिन
बुचिया के लिए बचे खुचे आलू खोदने लगता है तो उसका बेटा मनरा कहता है
कि,"अब ऐसी बातों के सहारे नही जिया जा सकता,चच्चा,ये आदमी के शोषण
का जरिया बन गयी है ।"[2]

दलितों के जीवन में शहर गाँव की अमानवीय और उत्पीड़क
दलित पहचान से थोड़ी मोहलत मिलने और मानवीय गरिमा और अस्मिता के,
क्षणिक ही सही,अनुभव की जनतान्त्रिक भूमिका निभाता है । यह सच है कि शहर
में रिश्ते स्वार्थ पर आधारित होते हैं लेकिन आपसी स्वार्थ के रिश्तों में भी
कम से कम मोलभाव की आजादी तो होती है । बाजार में खड़ा होकर श्रम
बेचने के नाते एक दलित की भी अपनी एक हैसियत होती है और अपनी रूचियों
के अनुरूप अपनी मजदूरी को खर्च करने की अत्यन्त सीमित लेकिन अत्यन्त महत्वपूर्ण

- 5

1-डा० संतराम अनिल,"हिन्दी उपन्यास के संघर्ष" सं. रामदरश मिश्र, पृ०- 197
2-मार्कण्डेय, "चुनी हुई कहानियाँ" , पृ०- 149

स्वतन्त्रता का आश्वासन होता है । सदियों की जकड़बन्दी में जकड़े गाँव के नीरस जीवन में, शहर में मिलने वाली आजादी का सपना अन्ततः झूठा साबित होकर भी मुक्ति का भी भूमिका निभाता है । गाँव और शहर की भूमिकाओं का मर्म यही है कि प्यास मिटती तो दोनों में से किसी जगह नहीं लेकिन गाँव उसे भूल जाने पर विवश करता है जबकि शहर उसे याद दिलाकर बेचैन कर देता है ।

"धरती धन न अपना" के उपरोक्त प्रसंग में अंततः काली को पादरी के यहाँ दूध का पाउडर मिलता है । पादरी उसे पाउडर देते हुए उससे दूध बनाने की विधि बताने लगता है तो वह जवाब देता है कि ,"मुझे पता है पादरी जी । शहर में भी ऐसा दूध मिलता है । एक गाढ़ा-गाढा रबड़ी जैसा डिब्बे का दूध भी होता है ।"[1]

इन कहानियों और उपन्यासों में नई चेतना लाने वाले पात्र प्रायः शहर से आते हुए दिखते है । "धरती धन न अपना" का नायक काली छः वर्ष बाद शहर से गाँव लौटा है । गाँव के करीब पहुँचने पर उसे अव्यक्त सा भय महसूस होता है----"काली का ध्यान फिर गाँव की ओर चला गया और वह आँखें फाड-फाड़कर पेड़ों की ओट में छिपे मकानों की ओर देखने लगा । गाँव की एक

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना" , पृ0- 167

गली में कोई कुत्ता भौंक उठता तो उसके उत्तर में दूसरी गलियों से कई कुत्तों के भौंकने की आवाजें आने लगतीं और फिर थोड़ी देर के बाद गाँव में यूँ खामोशी छा जाती जैसे कोई आदमी स्वप्न में बुदबुदाने के बाद करवट बदलकर सो जाये । वहाँ बैठे-बैठे काली को भय महसूस होने लगा । उसके दिल में छः साल के पश्चात् गाँव लौटने की खुशी खत्म होने लगी और उसका जी चाहा कि वह उल्टे पाँव ही कानपुर वापस चला जाये ।"[1]

आने वाले दिनों में गाँव में उसके साथ जो कुछ होने वाला है, इस भय के माध्यम से लेखक उसकी पूर्व सूचना देता है ।

मार्कण्डेय की कहानी "मधुपुर के सिवान का एक कोना" में मुन्नन और हीरा के प्रेम की शुरूआत शहर के अनुभवों को सुनने-सुनाने के बीच होती है--

"मुन्नन की दृष्टि उसी कोने पर थी, अरहर की लम्बी छाया के पीछे आम के बाग के झुरमुटे के पारवाली बखत पर, जहाँ बैठकर बहुत दिन पहले उसने हीरा को अपने, शहर के अनुभव सुनाये थे और सिनेमा की एक कहानी कहते-कहते हीरा की उत्सुक आँखों की चमक देखता रह गया था । तब से कितनी ही बार वह यह सोच चुका है कि उसने हीरा से उस दिन पूछ क्यों नहीं लिया कि क्या वह शहर चलना

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना" , पृ0- 9

चाहती है ? अब तो उस आग पर भी राख की एक मोटी तह जम गयी है और जब कभी उसमें से कोई चिनगी छूटती है, उसका मन जलने के बजाय और भी बुझ जाता है ।"[1]

मन्नू भंडारी के उपन्यास "महाभोज" का नायक बिसू शहर से पढ़ाई पूरीकर के लौटने के बाद दलित - भूमिहीनों के अधिकारों के लिए लड़ता है । उसकी शहादत के बाद उसका पिता हीरा एस0 बी0 सक्सेना के सामने बयान देते हुए कहता है-----"अरे बहुत पढ़े रहा ,सरकार । चौदह किलास पास । शहर भेजि के पढ़ावा रहा । मेहनत मजूरी कीन....रूखी सूखी खायी पर अपने बिसू को बहुत पढ़ावा रहा ,साहेब ।"[2]

बिसू का सहयोगी बिन्दा जो उसकी मौत के बाद उसकी लड़ाई लड़ते हुए उसी की हत्या के जुर्म में जेल भेज दिया जाता है,भी शहर से आया हुआ एक मजदूर है । उनके बीच होने वाली गर्मागर्म बहसों को हीरा लड़ाई समझता है । एस0 पी0 सक्सेना द्वारा पूछे जाने पर कि वे किस बात पर लड़ते थे वह जवाब देता है-- "न जाने कउनी-कउनी बात पर अइसी बतकही - अइसी बतकही कि

1-मार्कण्डेय, "चुनी हुई कहानियाँ" , पृ0-105

2-मन्नू भंडारी , "महाभोज" , पृ0- 94

बस्स । बिन्दा पढे-लिखे हैं न सरकार....फिर शहर का रहवैया....अब हम का उनकी बातिन का समझ सकति हैं,सरकार बतियात-बतियात जो लड़ परें तो लड़ते रहत.......।"[1]

नरेन्द्र मौर्य की कहानी "आदमी" के नायक कारिया उराँव को संघर्ष और विद्रोह की चेतना मानिया मुरमू से मिलती है । "मानिया इसी बस्ती का लड़का है,कारिया का हमउम्र पर बस्ती में सबसे होशियार । मेहनत -मजदूरी कर मानिया बस्ती से निकलकर शहर भाग गया था । वहाँ सात आठ साल रहकर शहर के बाबुओं जैसा पढ़ लिखकर बस्ती वापस लौटा है ।कारिया को यकीन नही था कि मानिया लिख-पढ़कर वापस लौट आयेगा । मानिया से पहले भी दो एक लड़के लिखाई-पढ़ाई करने शहर गये पर वे वापस बस्ती में रहने नही आये । शहर के बंगलों में रहते हैं और चार-.पाँच साल में एक बार चुनाव के समय गाड़ी,झंडे और ताड़ी तथा ठर्रे की बोतल लेकर वोट माँगने आते है ।शहर में रहते-रहते उनका चेहरा भी जंगल बाबू या ठेकेदार जैसा क्रूर हो जाता है । कारिया जानता है, वे पढ़ लिखकर अब अपने अनपढ़ भाइयों से नफरत करते हैं ।......परन्तु मानिया मुरमू वैसा नहीं है ।....... मानिया कहता है, हमारा हक हमसे अब तक छीना जाता रहा है । लेकिन अगर सब मिलकर एक जोरदार लड़ाई लड़ें तो हमें हमारा

- -

1-मन्नू भंडारी, "महाभोज",पृ0-94

हक मिलेगा । मानिया कहता है कि हक मागा नही जाता, हक कायम किया जाता है और हक कायम करने के लिए लड़ाई चाहिए ।"[1]

जवाहर सिंह की कहानी "आषाढ़ का एक दिन" में गाँव में दलितों का संगठन बनाने के लिए एक मीटिंग होती है । उसमें शामिल भोलू अपनी पत्नी को बताता है कि शहर से एक दलित नौजवान आया था जो उन्हें संघर्ष करने का संदेश दे गया है ---"ताड़ी-गांजा की नही सूरजो, यह सब पोलटिस की बात है ।..... तुम यह नहीं समझ पाओगी । गाँव के बाबू लोगों और हरिजनों में लड़ाई ठन गई है । गाँव के चमार,पासी,नोनियां,दुसाध,डोम और मुसहर मिलकर एक ओर रहेंगे और बामन,राजपूत,भूमिहार और लाला लोग दूसरी ओर । उसी की आज मिटिंग थी, रामदुलार भाई के बथान में । रामदुलार भाई और हरिहर शहर से हरिजन पार्टी का एक नेता बुला लाये थे । बीस-बाईस साल का तो छोकरा था, लेकिन गजब का लेक्चर झाड़ता है । शहर के कालेज में पढ़ाई भी करता है और हरिजन पार्टी भी चलाता है ।"[2]

यह मीटिंग कराने वाले हरिहर राम के बारे में सवर्ण "लोगों का ख्याल था कि सहेजन राम का मझला बेटा ,हरिहर-राम ही इन सभी खुराफातों

1-नरेन्द्र मौर्य, "दलित जीवन की कहानियाँ, पृ0-35

2-जवाहर सिंह, "दलित जीवन की कहानियाँ, पृ0-54

की जड़ है । वह शहर में मास्टरी नहीं करता है,बल्कि हरिजनों की नेतागीरी करता है । वही शहर से किसी हरिजन नेता को इस गाँव में हरिजन - संघ बनाने के लिए बुला लाया था ।" [1]

मधुकर गंगाधर की कहानी "उठे हुए हाथ" की नायिका दलित बसंती से भूस्वामी राधो महतो बलात्कार करता है । उसका बूढ़ा बाप रोते हुए उसे चुप रहने को कहता है । अगले दिन वह अपनी मौसी के पास पटना भाग जाती है । मौसी उसका किस्सा सुनकर हंसती है --"यह कौन सी नयी बात हुई ! तू जानती है, मैं क्यों गाँव से भागकर यहाँ आयी ? मेरी एक बुआ थी । पूरे गाँव में जमींदारों और बड़े घरों के लड़के जैसे ही जवान होते थे,उनका माय से ट्रेनिंग लेने पहुँच जाते थे । बुआ को यह सब करना पड़ता था ।" [2]

बसंती और उसकी मौसी ने शहर में सिर्फ शरण ही नही लिया है बल्कि वहाँ से वापस लौटकर वे गाँव आते है और भूमिहीन मजदूरों की लड़ाई लड़ते हैं । मौसी कहती है----"मैं जब बड़ी हुई तो गाँव से भागने को छट-पटाने लगी ।उसी समय एक ऐसा आदमी मिल गया जो मेरी तरह गाँव से ऊबा

1-जवाहर सिंह ,"दलित जीवन की कहानियाँ, पृ0- 59, सं. गिरिराज शरण

2-मधुकर गंगाधर, उपरोक्त-, पृ0-85 सं. गिरिराज शरण

हुआ था । हम दोनों भागकर पटना आ गये ।... हमने तय किया कि हम अपना रास्ता आप बनायेंगे । हम गाँवों में जाकर काम करने लगे । दबे हुए लोगों को हमने नींद से जगाया । किसनपुर में हमारे आते ही नया जागरण आ गया । हमने कम मजदूरी के खिलाफ आवाज उठायी ।[1]

बसंती आगे चलकर उस क्षेत्र की क्रान्तिकारी नेत्री बनती है और पुलिस से मुठभेड़ में शहीद होती है ।

गोपाल उपाध्याय के उपन्यास "एक टुकड़ा इतिहास" में नायिका चुन्नी उर्फ चंदी देवी गाँव में बेसहारा हो जाती है । उसके पति ने उसे धक्के मारकर घर से निकाल दिया है और बिरादरी के डर से गाँव में दूसरा कोई उसे अपने घर जगह देने के लिए तैयार नहीं है । मंदिर के धर्मशाले में रहने जाती है तो वहाँ वही बाबा प्रयागगिरी उसकी इज्जत लूटना चाहते है जो पंचायत में बैठने पर उसे घर से निकाल देने की राय का समर्थन कर रहे थे । बड़ी मुश्किल से कई दिनों तक मारी-मारी फिरने के बाद उसे एक दयालु व्यक्ति नरदेव जी के गोठ में रहने की जगह मिल जाती है लेकिन उसके मन की ज्वाला शांत नही होती है । न्याय के लिए बुलाई गई पंचायत में एक बार फिर उसे बुरी तरह अपमानित होना पड़ता है । अंततः वह न्याय की तलाश में शहर आती है---अपने क्षेत्र के विधायक

1-मधुकर गंगाधर, सं. गिरिराज शरण, पृ0-86 "दलित जीवन की कहानियाँ,"

नेताराम और दूसरे कांग्रेसी नेताओं से मिलने के लिए------

"नेताराम जी अल्मोड़े में नहीं मिले । वह लखनऊ गये हुए थे । कांग्रेस कमेटी के दफ्तर का पता लगाकर चुनुली ने टिकने का आसरा वहीं बना लिया था । दफ्तर में प्रेस भी था और प्रेस से एक अखबार निकलता था ।.... दफ्तर औरप्रेस का एक ही चौकीदार था ,नेपाली दलबहादुर । उसने एक दरी औ कम्बल का इंतजाम कर दिया था । कमेटी के सेक्रेटरी साहब ने उतरने वाली सीढ़ियों के पास की छोटी सी कोठरी में,जिसमें कांग्रेस के थोड़े बहुत पर्चे - पोस्टर एक कोने में पड़े हुए थे, चुनुली को रहने को कह दिया ।"।

यहाँ चुनुली को रहने के लिए आश्रय ही नहीं मिलता है बल्कि उसे संघर्ष की चेतना भी मिलती है जिसके सहारे वह पूरे उत्तराखण्ड में दलितों की मुक्ति का व्यापक आन्दोलन छेड़ पाती है । जिले के प्रख्यात दलित नेता मुंशी-राम जी से उसकी भेंट होती है । वे उसे निजी अपमान को गौण रखकर व्यापक दृष्टि अपनाने की सलाह देते है------"समय आयेगा बेटी । मुकदमा करने से कोई लाभ नहीं । तुम हार जाओगी । तुम्हें अभी अपने को इस काबिल बनाना है कि तुम अपने अपमान का बदला खुद ले सको । अभी तुम लड़की हो । तुम्हारे आगे सारा मैदान पड़ा है,सारी उम्र पड़ी है । काम करो,ऊँची उठो । अब यह देश स्वतन्त्र है । हर आदमी को आगे बढ़ने का अवसर है । हमारी सरकार ने समता का

- -

नारा दिया है । कानून बना दिया है ,मगर कानून क्या कर लेगा जब तक हम खुद नही जागेंगे ।"[1]

॥ ।॥ महिलाओं की स्थिति

दलितों को नागरिक तो क्या मनुष्य ही नही समझा जाता । जातियों में विभक्त भारतीय समाज में सही मायने में कोई दोयम दर्जे का नागरिक है तो वे महिलाएँ है । इन्हें अपनी-अपनी जातियों और अपने-अपने परिवारों में यह भूमिका मिली है । निकम्मा से निकम्मा पति उनका परमेश्वर माना जाता है और घर भर की गुलामी करना उनकी नियति समझी जाती है । क्रमशः पिता , पति और पुत्र के संरक्षण में ही उनका जीवन सफल हो सकता है । बेटी,बहन,पत्नी और माँ जैसी भूमिकाओं से अलग कोई भूमिका वे अपने लिए नही चुन सकतीं । अपराधियों की तरह जीवन भर मुँह छिपाए रहना उनका गुण समझा जाता है और स्वतंत्र निर्णय - क्षमता दोष । घर-बाहर पुरूषों के हाथों यौन उत्पीड़न का शिकार होती ये महिलाएँ आजीवन बलात्कार के भय के साये तले जीती है । पुरूषों के लिए पर्व-त्योहार करती और व्रत-उपवास रखती महिलाएँ पुरूषों के हर अपराध की जड़ और पाप का मूल कही जाती हैं। अपने घरो में उनकी स्थिति बिन बुलाए मेहमान सरीखी होती है । इसीलिए आज आधुनिक मशीनों के माध्यम

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास" ,पृ0- 87

से उनका पता लगाकर जन्म से पहले ही उन्हे खत्म करने की कोशिश की जाती है ।

महिलाओं की स्थिति हर जाति में ही उत्पीड़ित की है । इस मामले में सवर्ण महिलाओं और दलित महिलाओं की स्थिति में अन्तर यह है कि सवर्ण महिलाएँ पारिवारिक शोषण की चक्की में पिसती हुई जातीय उच्चता का भ्रम मन में रख सकती हैं जबकि दलित महिलाऐं बदतरीन किस्म के जातिगत उत्पीड़न का शिकार होकर भी परिवार में सापेक्ष रूप से अपनी स्वतन्त्र स्थिति रखती हैं । इसकी प्रमुख वजह यह है कि सवर्ण महिलाएँ आम तौर पर आर्थिक रूप से पुरूषों पर निर्भर रहते हुए अपनी जिदंगी चूल्हे-चौके में काट देती हैं जबकि दलित महिलाएँ खेतों में उत्पादक श्रम से जुड़कर आर्थिक आत्मनिर्भरता हासिल करती हैं और घर चलाने में बराबर की भागीदारी करती हैं । स्वतन्त्रता का यही स्वाद चखने के कारण उनका व्यक्तित्व सशक्त होकर उभरता है । उच्च जातीय पुरूषों का सीधा हमला झेलने के बावजूद उनकी विपरीत परिस्थितियों से जूझने की क्षमता में कमी नहीं आती ।

स्वतन्त्रयोत्तर हिन्दी साहित्य और समाज के विषय में यह कहा जा सकता है कि ,"जो स्त्रियाँ आजीविका का साधन स्वयं जुटाती थीं,उनकी मानसिकता में धीरे-धीरे व्यापक परिवर्तन आया और इस प्रकार उन्होंने जीवन और चिंतन के स्तर पर पुरूषों के समान ही स्वंय को प्रस्तुत करने की काशिश की ।"[1]

1-संत बख्श सिंह, "नई कहानी : कथा और शिल्प", पृ0-44

दलित चेतना से जुड़े हुए प्राय: समूचे हिन्दी कथा साहित्य में महिलाएँ अपने पुरूषों के मुकाबले अधिक दबंग, निर्णय क्षमता से सम्पन्न और लड़ाकू हैं । ऐतिहासिक सीमाओं के कारण भले ही हमेशा इनका नेतृत्व उभर कर न आता हो लेकिन अपनी स्पष्टवादिता, प्रखरता और समझौताहीन रवैये के चलते वे प्राय: असमंजस की स्थितियों में निर्णायक भूमिका निभाती हैं और कथा को सकारात्मक मोड़ देती हैं । इस मामले में अधिक क्षत्-विक्षत् होकर भी सवर्ण महिलाओं के मुकाबले ये निश्चित रूप से मजबूत स्थिति में दीख पड़ती हैं । प्रेमचन्द ,एक बार फिर, इस प्रवृत्ति का साक्ष्य प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत करते हैं ।

"धरती धन न अपना" के बिलकुल प्रारम्भ में जब चौधरी हरनाम सिंह जीतू को अकारण मंगू की शिकायत पर पीटता है तो पूरा मोहल्ला खड़ा होकर चुपचाप देखता रहता है लेकिन मंगू की बहन ज्ञानो औरतों के झुरमुट में खड़ी होकर तीखी आवाज में चौधरी को गाली देती है । माँ जस्सो उसका मुँह बंद करती हुई डाँटती है,"लेकिन ज्ञानो चुप नहीं हुई और दबी जुबान में चौधरी को गालियाँ देती ही रही । फिर वह भयभीत और मुरझाये हुए चेहरों को देखने लगी जो चौधरी की हर बात पर सिर हिला रहे थे । ज्ञानो ने घृणा से उनकी ओर देखा और सोचने लगी कि इनमें से किसी में भी इतनी हिम्मत नहीं है कि चौधरी को केवल

इतना ही कह दे कि वह नाजायज मार -पीट कर रहा है । आगे बढ़कर हाथ पकड़ लेना तो दूर की बात है ।"[1]

यह तो काली के गाँव आने के पहले दिन की बात है । आगे चलकर उसे ज्ञानो से प्यार हो जाता है । ज्ञानो उसका मकान बनने तथा चाची की बीमारी के दौरान और उसकी मृत्यु के बाद काली की मदद और देखभाल करती है,उसे खाना खिलाती है और हिम्मत बँधाती है । नंद सिंह को चौधरी मुंशी से बचाते हुए काली चौधरी मुंशी के गुस्से का शिकार होता है और रोज-रोज की झंझट से ऊबकर शहर जाने का फैसला करता है । इसके लिए वह पादरी से कुछ रूपये उधार लेकर निकलता ही है कि उसे ढूँढते हुए ज्ञानो पहुँच जाती है और उससे पूछती है-------

"पादरी से पैसे लेकर आये हो,शहर जाने के लिए ?"

काली उसके चेहरे पर दृढ़ता देखकर कुछ घबरा गया और हाँ में सिर हिला दिया ।

"अभी वापस करके आओ । घर-घर जाकर पैसे मागते तुम्हें शर्म नहीं आती ? जा,अभी वापस करके आ ।"

ज्ञानो अगर किसी ने हमें बातें करते देख लिया तो दोनों की शामत आ जायेगी ।"

- -

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना" , पृ0-24

"देखा जायेगा । पहले तू पैसे वापस कर । "

"कल वापस कर दूँगा । अभी तो लेकर आया हूँ । उलटे पाँव वापस करने जाऊँगा तो पादरी क्या कहेगा ।"

"जो मर्जी कहे लेकिन रूपये अभी वापस करके आ । मैं यहीं खड़ी हूँ । ज्ञानो ने दृढ़ स्वर में कहा ।"[1]

अंततः झख मारकर काली को अपना फैसला बदलना पड़ता है ।

धीरे-धीरे काली और ज्ञानो का प्रेम गाँव में चर्चा का विषय बन जाता है ।"मक्की और बाजरे की फसल बढ़ने के साथ-साथ ज्ञानो और काली के प्रेम के चर्चे भी फैलते गये । ...चमादड़ी के युवकों के साथ जाटों के लड़कों ने भी इन चर्चों से फायदा उठाना चाहा । उन्होंने ज्ञानो से छेड़-छाड कर दी ,उसे धमकियाँ दीं लेकिन वह पहले से भी ज्यादा मुँह-फट और निडर बन गयी । गली हो या पगडण्डी खेत हो या हवेली,जहाँ भी उसे कोई छेड़ता ,वह गालियाँ सुना देती थी और कई बार तो हाथा पाई के लिए भी तैयार हो जाती थी ।"[2]

एक दिन छज्जूडम चौधरी झाड़ी के पीछे उसे काली के साथ देख लेता है और पूरे गाँव में यह बात फैला देता है । ज्ञानो की उसकी माँ जस्सो

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना" , पृ0-205

2-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना" ,पृ0-265

और भाई मंगू जमकर पिटाई करते हैं और उसका आना-जाना बन्द करके उसकी मंगनी प्रसिन्नी की मौसी के लड़के से कर देते हैं । काली को संदेह होता है कि ज्ञानो अपनी इस मंगनी से खुश है । वह एक बार उससे मिलकर पूछना चाहता है । एक दिन उसका दरवाजा खुला देखकर वह अन्दर घुस जाता है । वहाँ ज्ञानो अकेली है । वह उसका हाथ पकड़ लेती है कि तभी ताई निहाली वहाँ आ कर शोर मचा देती है । जस्सो और मंगू काली को पीटने लगते है । काली खड़ा-खड़ा चुपचाप मार खा लेता है । बाबा फत्तू वहाँ आकर कहता है कि काली कह दे कि ज्ञानो उसकी बहन बराबर है । बस मामला रफा-दफा हो जायेगा । काली ज्ञानो की स्थिति को लेकर असमंजस में है इसलिए कहता है----"पहले ज्ञानो से पूछो ।"

"उससे भी पूछ लेते हैं ।" बाबा फत्तू ज्ञानो को पुकारता हुआ बोला । "पुत्तरा,पहले तू कह दे कि यह तेरा भाई लगता है ।"

ज्ञानो चुप रही तो जस्सो ने चीखकर कहा"सिरमुन्निये,बोलती क्यों नहीं ?"

ज्ञानो ने सब पर नजर डाली और काली की ओर संकेत करती हुई धीमे स्वर में बोली,"अगर वह अपनी छाती पर हाथ रखकर कह दे कि वह मुझे अपनी बहन समझता है तो मैं मान लूँगी ।"[1]

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना" , पृ0- 276

ज्ञानो को कोई असमंजस नहीं है । वह अपनी स्थिति स्पष्ट कर देती है । इसके बाद काशी भी उसे बहन मानने से इंकार कर देता है । आखिर अपनी इसी स्पष्टवादिता और साहस के कारण ज्ञानो को अपनी जान गँवानी पड़ती है ।

"एक टुकड़ा इतिहास" की नायिका चुनली घर से निकाले जाने के बाद दर-दर की ठोकरें खाती हुई शिवालय के धर्मशाला में बाबा प्रयागगिरी की कृपा से शरण पाती है । दुनिया के सामने उसकी छाया तक को अछूत मानने वाले बाबा उससे रोटियाँ बनवाकर खाते हैं । रात में सोते समय जब वे उसके साथ मनमानी करना चाहते हैं तो वह बेहिचक उन्हें धक्का देकर वहाँ से चल पड़ती है । वह न्याय के लिए पंचायत जाती है लेकिन वहाँ उसकी माँग सुनने वाला कोई नहीं है । पंचों में से एक रामदेव पंचायत खत्म करने को कहता है । इस पर चुनली जवाब देती है -- "बिलकुल खत्म की जाय । क्योंकि सब चोर हैं । मैं जानती हूँ कि चाँदी के नकद जूते खाये हुए तुम्हारे सिर क्यों नहीं मेरी तरफ उठ पा रहे हैं । देख लिया मैंने गाँधी बाबा का स्वराज ! रामराज्य ! पंचायती राज्य ! ठीक है, मुझे रंडी कहना बाकी रह गया था वह भी आज तुम्हारी पंचायत ने कह दिया । क्यों बाबा ? रंडी हूँ न मैं ? बोलते क्यों नही अनोपसिंह जी, चरनसिंह जी, चुप क्यों हो गये तुम लोग ? तुम पंचों के सिर पर अगर मैं भी चाँदी के जूते आज मार सकी होती तो तुम्हारा इंसाफ मेरी तरफ हो गया होता ।"

चुन्नी से चंदी देवी बन जाने के बाद वह अपने नेता और संरक्षक मुंशीराम जी की राय न होने के बावजूद दलितों के मंदिर प्रवेश का आंदोलन छेड़ती है और बहुत जल्द इलाके की एक लोकप्रिय नेत्री बन जाती है। दलितों के लिए आरक्षित सीट पर मुंशीराम जी के हक में दावा छोड़कर वह अपने अनारक्षित विधानसभा क्षेत्र से नेताराम जी के विरूद्ध चुनाव लड़ने का फैसला करती है। चुनाव लड़ने की बात सुनकर मुंशीराम जी सोचते हैं कि वह उन्हीं के खिलाफ लड़ना चाहती है मगर अनारक्षित सीट से लड़ने की बात जानकर उन्हें राहत मिलती है। उनसे बात करते समय चंदी देवी की चारित्रिक दृढता का पता चलता है----"मैं यह नहीं बर्दाश्त कर सकती कि हमारी नुमाइन्दगी कोई आदमी बाहर से आकर करे। हम एक नेता भी नहीं अपने बीच में पैदा कर सकते? इससे बड़ा मजाक उस जनता से क्या होगा जिसका प्रतिनिधित्व नेताराम जी करना चाहते हैं। इतने सालों में कौन सा हित किया उन्होंने वहाँ की जनता का।"[1]

चंदी देवी के रूप में एक दलित महिला पात्र के व्यक्तित्व के बड़प्पन का अनुमान हम एक और घटना से लगा सकते हैं। समता आश्रम में गाँव के दबंग रामदेव वगैरह ने आग लगा दी और वह चंदी देवी के देखते ही देखते जलकर खाक हो गया। विधानसभा में इस घटना पर हंगामा होने के बाद

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास", पृ0-118

सरकार ने जाँच बिठा दी जिसकी रिपोर्ट पर आग लगाने वाले जेल चले गए । उनकी सिफारिश लेकर गाँव के वही चौधरी और सरपंच आते हैं जिन्होंने कभी चंदी देवी को कांतमणि की पत्नी मानने से इंकार कर दिया था । इन लोगों का चंदी देवी से वार्तालाप दृष्टव्य है------

"बात ये है चंदी देवी कि रामदेव वगैरह तब से जेल में ही हैं । आखिर कब तक सड़ाओगी बेचारों को ? आठ-नौ महीने हो गये,अभी जमानत की कार्यवाही चल रही है ।" रामदत्त जी ने बहुत धीरे से बात कही ।

"मैंने तो उन्हें जेल भेजा नहीं । मेरी रिपोर्ट पर जेल गये नहीं । फिर जैसी करनी की है उसे भोगेंगे न ।" चंदी देवी ने तेज आवाज में कहा ।

"बहुत हो चुका । इतनी सजा काफी है । उनके बच्चे परेशान हैं । आखिर गांव के लोग हैं,माफ कर दीजिए न ।" रामदत्त जी ने एक एक शब्द भिगो-भिगोकर कहा ।

"अजीब बात कह रहे हैं आप ? क्या मेरे कहने से सरकार छोड़ देगी उन्हें ?" चंदी देवी ने हैरत के भाव से कहा ।

"बिलकुल छोड़ देगी ।" रामदत्त जी ने गंगादत्त जी के समर्थन के लिए उनकी तरफ देखकर बात आगे कही,"आपका असर हम जानते हैं । आप रानीखेत भी न जाये सिर्फ लिखकर दे दें कि समझौता हो गया,उन्हें छोड़

दिया जाय और मामला खत्म कर दिया जाय, तो वे लोग सचमुच छोड़ दिये जायेंगे ।"

"आप सोचते हैं,ऐसा कानून किसी को बख्शता नहीं । और जला दें जाकर निरीह बच्चों की झोपड़ी । डूमड़ी की बिसात क्या है?" चंदी देवी उबल पड़ी ।

"उनकी तरफ से हम माफी माँगते हैं । माफ कर दो चंदी देवी ।" कहते हुए गंगादत्त ने हाथ जोड़ दिये ।

"शर्मिन्दा न कीजिए । अगर मेरे ही कहने से छूट जाना है तो लाइए । कागज लिख लाइए, मै आँख मूँदकर दस्तखत कर दूँगी ।"

दस्तखत के बाद साथ मे चाय पीते हुए चंदी देवी के दिल की कसक जुबान पर आजाती है---"उस दिन कांतमणि की चंद्रैण मे यदि आप लोग इस तरह मेरे हाथ की चाय पी लेते तो मेरे दिन क्यों बिगड़ते ?" चंदी देवी ने चाय की घूंट सिप करते हुए कहा ।

"फिर हाथ जोड़कर उस दिन के कर्म पर भी माफी माँग लें ? उस दिन भी हठ हमने नही की थी । हम तैयार थे ।"गंगादत्त ने चाय घूंटते हुए कहा ।[1]

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास" , पृ0-212

।।। नैतिकता की अवधारणा

यहाँ नैतिकता से हमारा आशय स्त्री-पुरूष संबंधों से जुड़ी हुई मूल्य व्यवस्था से है । सामान्यतया हिन्दी-भाषी समाज और तदनुसार हिन्दी साहित्य में भी स्त्री-पुरूष संबंधों को परिवार और समाज की दृष्टि से मर्यादित किया गया है । आधुनिक काल में उन्मुक्त प्रेम की अभिव्यक्ति करने वाला साहित्य भी आया लेकिन मर्यादित और गार्हस्थ प्रेम के सामने उसे वैसी ही जगह मिली जैसी मध्यकालीन साहित्य में भक्तिकाव्य के सामने रीतिकाव्य को । "शिष्ट प्रेम के मूल्यों को विवाह के मूल्यों के साथ जोड़ा जा सकता था यदि विवाह सम्बद्ध प्राणियों के स्वतंत्र वरण का परिणाम होता ।"[1] लेकिन भारतीय परिस्थितियों में ऐसा सम्भव न था ।

विधि-निषेध परक इस नैतिकतावादी व्यवस्था में कभी-कभी मनुष्य के सहज संवेगों और प्राकृतिक व्यवस्था का दमन भी हो गया जिससे अनेक कुंठाऐं उत्पन्न हुई । हमारे अध्ययन की अवधि अर्थात साठोत्तरी दौर का कथा साहित्य विशेष तौर पर अपनी इसी विशेषता के लिए जाना जाता है । पिछले अध्याय में हमने कहा था कि मध्यवर्गीय कुंठा और संत्रास के विस्फोट के समानान्तर उसके प्रतिवाद के रूप में गहरे सामाजिक यथार्थ का कथा-साहित्य

1-ऑयन वाट्, "उपन्यास का उदय", पृ0-180

में सक्रिय था जिसकी सबसे प्रखर अभिव्यक्ति दलित चेतना में हुई । साठोत्तरी दौर की मुख्य प्रवृत्ति का समग्रता में प्रतिवाद करने वाली इस धारा ने नैतिकता के प्रश्न पर अत्यन्त ऐंद्रिय और भौतिक धरातल पर उतर कर प्रेम की अकुंठ व्यंजना की ।

हिन्दी साहित्य का प्रधान स्वर लोकतान्त्रिक रहा है इसके बावजूद इसकी मुख्य धारा में स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखने वाले महिला चरित्र प्रायः नगण्य हैं । पिछले पृष्ठों पर यह संकेत किया जा चुका है कि इसके पीछे सामाजिक बंधन और आर्थिक निर्भरता का बड़ा हाथ है । यह भी प्रेम के स्वस्थ और सहज विकास में एक बड़ी बाधा रही है । इसी संकोच के चलते प्रेम में कभी-कभी बन जाने वाले शारीरिक संबंधों के लिए "सब कुछ गवाँ देना" जैसे मुहावरे चल निकले । बहरहाल दलित महिलाओं की दृढ़ता ,उनका आत्मविश्वास और उनके अनुभव जगत् का हिस्सा बन चुकी स्वतंत्रता इस तरह के मुहावरों में अभि-व्यक्त होने या कठोर नैतिकतावादी नियमों से संचालित होने को तैयार नहीं होती । दलित चेतना से युक्त कथा साहित्य में प्रेम संबंधी नैतिकतावाद के विकल्प की तलाश की एक वजह यह भी रही है ।

कहने का आशय यह है कि गोदान में मेहता और मालती के बीच "प्लेटोनिक लव" संभव है लेकिन मातादीन और सिलिया या गोबर

और झुनिया के प्रसंग में वह सिर्फ हास्यास्पद लगेगा । दलित चेतना से जुड़े चरित्र प्रेम की शारीरिकता का निर्वाह सहज भाव से, जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय के चरित्रों की तरह लंबी - चौड़ी बौद्धिक जुगाली के बगैर, करते है ।

"धरती धन न अपना" में शहर से लौटने के बाद काली का पहला साक्षात्कार ज्ञानो से कुछ यूँ होता है -------

"काली ने चौंककर उसकी ओर देखा और क्षण बाद ही उसकी आँखों के सामने छः साल पहले की एक बेबाक, निडर, झगड़ालू और खुले बालोंवाली लड़की घूम गयी जो सारा दिन छोटी उम्र की बछेरी की तरह गलियों में घूमती - फिरती थी । कहीं गमी हो या शादी, झगड़ा हो या फिसाद, वह सारा दिन वहीं मंडराती रहती थी । काली ने ज्ञानो की ओर ध्यान से देखा और उसके यौवन और सुडौल शरीर को निहारता हुआ बोला, "ज्ञानो तू तो बहुत बड़ी हो गयी है ?"

"तू भी तो बड़ा हो गया है ।"ज्ञानो ने बेबाकी से उत्तर दिया ।[1]

कबड्डी के खेल में चौधरी हरदेव बेईमानी से काली को पैर मार देता है जिससे उसे कूल्हे में गंभीर चोट लग जाती है । ज्ञानो उसे लाठी के सहारे चलते हुए देखती है । उसे अपने भाई मंगू, जो चौधरियों का चापलूस है,

---

1-जगदीश चन्द्र ," धरती धन न अपना" , पृ0- 30

की बात नहीं लगती है कि काली की कंधे और कूल्हे की हड्डी चटख गयी है। इधर काली आगे जाता है तो उसे चौधरी बलवंत ,दिलसुख और मंगू मिलते हैं। दोनों मंगू के सामने ही चमादड़ी की दूसरी लड़कियों के साथ उसकी बहन ज्ञानो के शरीर का रस ले-लेकर वर्णन करते हैं। मंगू के बताने पर भी कि वह उसकी बहन है दोनों पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। काली टोकता है,उसे यह कहकर डाँट देते हैं कि जब उसके भाई को कोई आपत्ति नहीं है तो वह बोलने वाला कौन होता है। दूसरी लड़कियों की चर्चा में मंगू भी शामिल है। काली चुप हो जाता है और घर वापस लौट आता है। ज्ञानो उसी के घर में बैठी है। काली को बलवंत और दिलसुख की बातें याद आती हैं। वह चोट के बारे में उसके सवालों को टालकर उसे अपने घर वापस भेज देता है। उसके लहजे से ज्ञानो को यकीन हो जाता है कि उसे गहरी चोट लगी है। रात में उससे रहा नहीं जाता और फिर वह उसके घर में चली आती है। चाची और काली दोनों सोए हैं। वह काली के सिरहाने बैठकर उसके कंधे पर हाथ फेरने लगती है। काली हड़बड़ाकर उठता है और उसे ईंटों के चक के पीछे ले जाता है।

'"ज्ञानो ने सरगोशी में पूछा,"क्या बहुत चोट लगी है ?"

"नही ।"

"सच ?"

"सच ।"

"खा मेरी सौगंध ।"

"तेरी सौगंध ।"

ज्ञानो ने इत्मीनान से धीरे-धीरे साँस छोड़ी और अपनी तसल्ली करने के लिए काली के बाजुओं, रानों, छाती और पीठ पर हाथ फेरने लगी । काली के शरीर में सनसनी - सी दौड़ने लगी और उसने ज्ञानो को अपनी बाँहों में ले लिया ।

"चोट लगी कहाँ है ?

"कूल्हे में ।"

"प्लेग निकले मोये हरदेव को ।" ज्ञानो ने उसकी छाती के साथ सटते हुए कहा ।

काली को बलवंते और दिलसुख की सब बातें एक बार फिर याद हो आयीं ।....कच्चे खरबूजे जैसी छातियाँ ।

काली की साँस उखड़ने लगी और सारे शरीर में तनाव बढ़ने लगा । उसने ज्ञानो को भींच लिया । फिर उसकी पीठ को अपनी छाती के साथ लगा लिया और हाथ उसके स्तनों पर जाकर कटोरियाँ बन गये । ज्ञानो ने कुछ क्षणों के लिए काली की गिरफ्त को तोड़ने का यत्न किया लेकिन शीघ्र ही

उसके हाथ ढीले पड़ गये ।

कुछ क्षणों के लिए वे ऐसे ही खड़े रहे । काली भी सब खौफ - खतरों को भूल गया और उसके हाथ नीचे रींगने लगे । ज्ञानो ने एक बार फिर उसे रोकने का असफल यत्न किया । फिर वह भी काली के साँचे में ढलती गयी ।

जब काली ने अपनी गिरफ्त ढीली की तो ज्ञानो को महसूस हुआ कि वह गिर जायेगी । उसने बहुत कठिनाई से अपने आपको संभाला । उसे एकदम डर और शर्म महसूस होने लगी । वह काली के आँगन से निकल गली में आ गयी । उसने घर जाकर अंदर से दरवाजे की साँकल चढ़ा दी ।"[1]

"एक टुकड़ा इतिहास" में समता आश्रम को जलाने वालों को माफ करने की विनती करने आए गंगादत्त चंदी देवी से सोशलिस्ट कार्यकर्ता रमेश उनियाल का जिक्र करते है----"जंगलाल वाली मीटिंग हुई थी न अभी देहरादून में, वहाँ रमेश उनियाल मिले थे । बेहद तारीफ कर रहे थे तुम्हारी । गंगादत्त ने बात का प्रमाण दिया ।

"रमेश जी मिले थे ?" चंदी जैसे पुलक उठी-"बड़े तपस्वी

1-जगदीश चन्द्र, "धरती धन न अपना" , पृ0-140

जीव हैं वह । मेरी ही पार्टी के कार्यकर्ता हैं । घर में सिर्फ माँ है और विधवा दहिन । खुद एम० ए० पास हैं इलाहाबाद से, मगर जोग लिए गाँव-गाँव घूमते रहते हैं । समाजवाद के पीछे दीवाने बने रहते हैं ।" चंदी देवी बिना पूछे तारीफ करने लगी ।"[1]

सोशलिस्ट पार्टी के सम्मेलन में दोनों नैनीताल जाते हैं और वहाँ अगल-बगल के कमरों में ठहरते हैं । चंदी देवी रात में कुछ देर से लौटती है । रमेश ने उनका खाना अपने कमरे में ही रख लिया है । वह वहीं खाना खाती है फिर बैठकर बातें करने लगती है । एक चारपाई के अलावा कमरे में और कोई सामान नहीं है । दोनों उसी पर बैठे हैं । मौसम ठंडा है । एक ही रजाई दोनों ने पैरों पर डाल रखी है ।

"ठंड बढ़ रही थी, चंदी देवी ने भी पाँव समेटकर चारपाई पर कर लिया तो वे रमेश के पाँवों से छू गये । रमेश को यह छूना तो अच्छा लगा पर चंदी देवी ने पाँव तुरंत हटाकर दूर कर लिये । रमेश को चंदी देवी के पाँवों का स्पर्श, चंदी देवी के पाँवों की गर्मी अपने पाँवों के रास्ते सिर तक छू गयी । यह उसे बहुत अच्छा लगा ।

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास", पृ0-21।

....रमेश का दाहिने पाँव का पंजा जरा-जरा खिसकते उसकी जाँघ तक पहुँच गया । अपनी जांघ पर एक सख्त मरदाने पांव का पंजा घिसते हुए एक जगह पर टिक जाने पर चंदी देवी का भी सारा शरीर जैसे झनझना उठा था । उसके मन पर तुरन्त कांतमणि कौंध गया । उसके मन पर वकील आनंद कौंध गये । उसके दिल की धड़कनें बेहद बढ़ गयी । उसके गले का थूक जैसे सूख गया ।

....उसने पांव का पंजा और बढ़ा दिया । वहाँ पाँव का पंजा पहुँचते ही चंदी देवी जैसे सिहर उठी । जैसे कांप गयी । गला खुश्क । पाँव हटाये भी तो कैसे । चुप रही । आगे की घड़ी की घटना का सांस रोक कर इंतजार करती रही । सारा बदन जैसे ऐंठ गया । दांतों से निचले होंठों को काटने लगी । शिराएँ जैसे चटकने लगीं । बदन जैसे रस्सियों से बंध गया । कानों के पीछे की नसें जैसे धड़कने सी लगीं । उसे यह बेहद बुरा लगा पर जैसे बहुत अच्छा भी लगा ।

...........चंदी देवी शिथिल पड़ी रही । अवचेतन सी । अवश सी । बदन में लपटें फूटने लगी थीं । छटपटाहट थी मगर रोके रही । रमेश के साथ टिहरी में वह काफी घुल मिलकर रही थी । अगल-बगल के कमरों में रहते थे । साथ खाना-पीना, दिन भर गाँव - गाँव घूमना, रात गप्पें लड़ाना रमेश जितना समझदार था उससे भी ज्यादा खूबसूरत । भरा-भरा बदन था । शक्ल जैसे कांतमणि की हो । चंदी देवी जब टिहरी में रही तो रात को

चारपाई पर लेटे लेटे भी रमेश के बारे में देर तक सोचती रही थी । एक बार उसने सोचा भी था कि कांतमणि ने तो छोड़ दिया अब रमेश को.... मगर तुरन्त उसने सोचा था कि रमेश से प्रस्ताव करूँ भी और वह गुस्सा कर गया तो बदनामी भी होगी और आंदोलन भी मरेगा ।

.....शरीर को थोड़ा खिसकाकर जैसे चंदी देवी ने रमेश के पांव के सख्त पंजे को और जगह दे दी ।

"बत्ती क्यों जलती रहे ? हम लोग बातें करें और बत्ती बुझा दें ।" रमेश ने सुझाव दिया । चंदी देवी चुप रही ।

रमेशनेउठकर बत्ती बुझा दी और दरवाजे को ठीक तरह से बंद कर चारपाई पर लौट आया । चंदी देवी उसी हालत में चुप लेटी रही । चंदी देवी ने उसकी गर्म सांसों को अपनी नाक के पास महसूस किया और उसे लगा कि दो बड़े-बड़े केंकड़े उसकी छातियों पर रेंग रहे है । दबोच रहे हैं । उसने हल्का सा विरोध किया न करने जैसा । फिर वह बदहवास - सी, बेजान -सी, दीवार से सिर हटाकर चारपाई पर सीधे लेट गयी ।

चंदी देवी को लगा वह आकाश में ऊँचे तक उड़ रही है । उसे लगा कि कोई भारी बोझ है जिसे वह बड़े प्यार से बांहों में बांधकर झेल रही है । उसे लगा उसका सारा शरीर जैसे मूसलों से कूटा जा रहा है । वह जैसे दमकते - चमकते तारों के चौखटे में कसी , बंधी सी बंदकर दी गयी है ।

.... अँगड़ाई लेने के बहाने रमेश ने अपने पाँव फिर चंदी देवी के पाँवों से छुआ दिये । अबकी बार चंदी देवी अपने पाँव हटा नहीं पायी । चंदी देवी ने रमेश के पाँवों की मुलायम गर्मी महसूस की । उसे बेहद अच्छा लगा । दोनों के पाँव मिल रहे थे । दोनों अनजाने में बहक रहे थे । चंदी ने अपने पाँव हटाना चाहा मगर जैसे नहीं चाहा । चारों ओर विकराल गुनगुने पानी का समुद्र । पूरे समुद्र में तड़पती-छटपटाती वह अकेली एक मछली । उसे लगा कि उसका बदन जैसे गर्म सलाखों से छेद दिया जा रहा है । जैसे गर्म-गर्म पारा उसके शरीर पर, रोम-रोम में, नस-नस में उड़ेल दिया गया है । झूले पर पेंग लेती-सी चंदी देवी को लगा कि जैसे हवा के घने विस्तार में वह मीलों दूर इधर से उधर फेंकी जा रही है । एकाएक समुद्र की हलचल शांत हो गयी है और सारे समुद्र में इधर से उधर दौड़ती-छटपटाती एक मछली एकाएक ठंड और ठंडे जल के चक्र में घिरकर स्थित हो गयी है । जैसे समुद्र की सतह पर हिम जमता चला जा रहा है । और यह सारा शरीर पानी में डुबाये, गर्दन हिम के कसाव से दबाये, सिर हिम पर्त के ऊपर निकाले हुए है । चंदी देवी बेहोश नहीं जैसे पूरे होश में है ।

सुबह जब चंदी देवी की आँख खुली तो जैसे किसी पुस्तक का कोई पृष्ठ सामने आकर खुल गया । वह सन्न रह गयी ।... रमेश को देखते ही वह जैसे शरमा गयी । रात का सारा दृश्य उसके सामने खिंच गया । रमेश उसे "पाजी" सा लगा

1-गोपाल उपाध्याय, "धरती धन न अपना" , पृ0-226

"नाच्यौ बहुत गोपाल" में नायिका निर्गुन देवी एक पचहत्तर वर्षीय कामांध ब्राह्मण मसुरियादीन की युवा पत्नी है जो हर रात उसके शरीर की आग भड़का देता है मगर शांत नहीं कर पाता । वह उसे सात तालों के अंदर बंद रखता है जहाँ बाहर से केवल मेहतरानी ही दिन में एक बार आती है । उसी से हंस बोल कर निर्गुन अपना जी हल्का कर लेती है । एक बार किसी शादी में जाने की वजह से मेहतरानी अपने जवान बेटे मोहना को अपने एवज पर भेजती है । निर्गुन उसे देखते ही उस पर मोहित से उठती है लेकिन वह केवल अपने काम से काम रखता है । तीसरे दिन निर्गुन उसे रोकने के लिए एक युक्ति करती है------

'मोहना आया । चुपचाप कमाकर, पानी के लिए गुहार लगाए बिना ही झटपट निकल भागना चाहता था कि भीतर के दरवाजे से लगी खड़ी हुई निर्गुन ने झिरी से झांक कर एक पल्ला खोल दिया । मोहना ठिठक कर सामने के सम्मोहन से बंध गया । निर्गुन ऐसे ही खड़ी थी जैसे प्रकृति ने वर्षों पहले उसे धरती पर भेजा था । मोहना का एक हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचते हुए उसने धीरे से कहा :"बाहर के दरवाजे बंद कर दो ।" जादू के जोर से हरकत करने वाले गुड्डे की तरह ही मोहना के हाथ लोहे का कमानेवाला पंजा पटककर दरवाजे बंद करने लगे । बाहर की दुनिया से आरक्षित होते ही निर्गुन ने भीतर

के दरवाजे का दूसरा पल्ला भी खोल दिया और भीतर घुसकर मोहना से कसकर चिपट गई । नौजवान पुरूष काया के नैसर्गिक प्रलोभन को अपना आस्तित्व बोध करते देर न लगी ।

आज निर्गुन ने अपनी इच्छापूर्ति के लिए हर तैयारी पहले ही से कर रखी थी । ऊपर की छूत-छात का बंधन न रहे इसलिए भोजन की सामग्री ,पानी की सुराही,कुल्हड़,गिलास,चादर,गद्दा,तकिया,चारपाई,जिस-जिस बर्तन या वस्त्र को स्थायी रूप से अछूत बनाना उपयोगी समझा वह सब पहले ही नीचे लाकर रख लिया था । जी की तपन बुझाकर वह हल्की हुई और ऐसी हल्काई कि अपने मोहन पर रीझ-रीझ उठी ।'[1]

नैतिकता की उसी वैकल्पिक अवधारणा को न समझ पाने के कारण प्रख्यात दलित चिंतक धर्मवीर दलित महिलाओं को उच्छृंखल और व्यभिचारिणी कहते हुए उन पर नियन्त्रण रखने की वकालत करते हैं ।"[2]

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल" ,पृ0- 7।

2-धर्मवीर , "हरिजन से दलित " सं0 राजकिशोर , पृ0-153

(iv) धर्म के प्रति दृष्टिकोण

दूसरी भाषाओं की ही तरह हिन्दी के साहित्य में भी धर्म के प्रति आम तौर पर दो तरह के दृष्टिकोण दिखाई पड़ते हैं । या तो यह धर्म को स्वीकार करता है ,या फिर उससे इंकार करता है । दूसरे शब्दों में या तो इसका प्रणयन आस्तिकता की भावभूमि पर होता है,या फिर नास्तिकता के आग्रह के साथ । धर्म से जुड़े हुए मंदिर -मस्जिद, पुजारी-मौलवी और कर्मकांड आदि तत्वों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया भी उन्हीं दो दृष्टिकोणों के अंतर्गत होती है । लेकिन दलित चेतना से सम्पृक्त कथा साहित्य में आस्तिकता-नास्तिकता से परे हटकर धर्म के सामने अपनी मानवोचित स्वीकृति पाने का आग्रह दिखाई पड़ता है । दलित वर्ग हिन्दू धर्म को मानता है या नहीं मानता इससे पहले यह सवाल उठता है कि हिन्दू धर्म दलित वर्ग को कितनी मान्यता देने को तैयार है । ठोस रूप में यह प्रश्न दलितों के मंदिर प्रवेश के अधिकार को लेकर उठता रहा है जो इस सदी के प्रारंभ से ही दलितों के मानवीय अधिकारों की अभिव्यक्ति का प्रमुख तरीका रहा है । इस रूप में यह विशुद्ध धार्मिक प्रश्न न रहकर सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों का प्रश्न बन जाता है । धर्म के प्रति दलित चेतना से युक्त दृष्टिकोण की यही विशिष्टता है । "धर्म ने कितने चमत्कार खड़े किए ,पर हमें

कहाँ पहुँचाया ? भ्रम और अंध विश्वास में छोड़ गया ।"[1]

इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हुए दलित चेतना के प्रणेता डा० अम्बेडकर ने एक वक्तव्य देते हुए कहा था कि,"अभी ज्यादा दिन नहीं हुए ,भारत में यूरोपियन क्लबों के दरवाजों पर लिखा होता था-- कुत्तों और भारतीयों को प्रवेश की अनुमति नहीं है । आज हिन्दुओं के मंदिरों पर भी ऐसे ही बोर्ड लगे है । अंतर सिर्फ यह है कि उनमें जानवर प्रवेश कर सकते हैं,परन्तु दलितों को प्रवेश करने की अनुमति नहीं है । दोनों मामलों में स्थिति एक सी है । किन्तु दलित अपना स्वाभिमान त्याग कर उन मंदिरों में क्यों प्रवेश करना चाहते है, जहाँ से हिन्दुओं ने उन्हे बहिष्कृत कर दिया है ? दलितों के लिए मंदिरों के दरवाजे खुलें या न खुलें ,इस प्रश्न पर हिन्दओं को सोचना है,न कि दलितों को इसके लिए आंदोलन चलाना है । यदि हिन्दूसोचते हैं कि मनुष्यता की पवित्रता का आदर करना बुरा है, तो मंदिर के दरवाजे बंद रखे । वे भाड़ में जायें,दलितों को मंदिर में जाने की कोई चिंता नहीं है । हिन्दू इस बात पर भी विचार करें कि क्या मंदिर प्रवेश हिन्दू समाज में दलितों के सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने का अन्तिम उद्देश्य है ? या उनके उत्थान की दिशा में यह पहला कदम है ? यदि यह पहला कदम है, तो अंतिम लक्ष्य क्या है ? यदि मंदिर प्रवेश अंतिम लक्ष्य है, तो

1-कमलेश्वर की कहानी "पानी की तस्वीर" का एक पात्र,उद्धृत ,"अस्तित्ववाद और नई कहानी" डा० लालचन्द गुप्त "मंगल" , पृ०-15।

दलित वर्गों के लोग उसका समर्थन कभी नहीं करेंगे । दलितों का अंतिम लक्ष्य है सत्ता में भागीदारी ।"[1]

स्मरणीय है कि मंदिर प्रवेश आंदोलन को हथियार की तरह इस्तेमाल करके डा० अम्बेडकर ने भारत में दलितों की स्थिति को लेकर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्याप्त जागरूकता तथा उत्तेजना पैदा कर दी थी । उन्होंने इस सवाल पर कांग्रेस नेताओं और हिन्दू नेताओं को अपना रवैया बदलने के लिए बाध्य कर दिया था । इस तरह गेंद को हिन्दू नेताओं की कोर्ट में डाल देने के बाद आंदोलन को अगले चरण में ले जाने के लिए उन्होंने यह वक्तव्य दिया था ।

मंदिर प्रवेश मुद्दे की शक्ति "एक टुकड़ा इतिहास" में देखने को मिलती है जिसमें चंदी देवी का लगभग पूरा संघर्ष इसी मुद्दे को लेकर है और इसी के बल पर वह उत्तराखंड की एक महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति के बतौर स्थापित होती है । टिहरी के शिवालय में दलितों के साथ मंदिर प्रवेश के लिए आगे बढ़ते समय उन्हें सम्बोधित करती हुई चंदी देवी कहती है --"आओ नयाड़ी और ओजी, लुहार, मोची, भूल, मौजी, दर्जी, कोठी, दास और दूसरे डूम सब लोग

1-डा० अम्बेडकर ,"4 फरवरी 1933 को प्रेस को दिया गया वक्तव्य, उद्धृत, 'हरिजन से दलित', सं० राजकिशोर, पृ०-74

आओ और इधर बैठ जाओ । हम सब समाज में पतित ,निकृष्ट और गिरे हुए माने जाने वाले लोग आज अपने भगवान शिवजी को बीठों की तरह जल चढ़ायेंगे । हमें आजाद देश के संविधान ने यह हक दे दिया है कि हम भगवान की प्रार्थना कर सकें इन बीठों की तरह । भगवान किसी का बंदी नहीं है,धरोहर नहीं है । हम सबका है । हर ईंसान का है । इस धरती पर जन्में हर ईसान को उसे पूजने मानने का हक है । कानून ने यह हक हम सबको दिया है । हम अछूत अब नहीं रहे । जो हमसे छूत करेगा सरकार उसे जेल भेज देगी ।"[1]

नौटियाल जनता से सवाल करता है---"आजादी मिली पर क्या कमजोर वर्ग का शोषण रूका । यह कैसी आजादी है भाइयों कि डूम आज भी बीठों की गुलामी कर रहा है,उसे कुत्ते के बराबर भी इज्जत नहीं मिल पाती ? ये मंदिर ये भगवान जो सबके हैं,सबके लिए हैं,वहाँ भी वह भगवान को हाथ नहीं जोड़ सकता । ये कैसी व्यवस्था है ? ये कैसी सरकार बनाई है आपने ? क्या कर रही है ये सरकार गरीबों के लिए ,डूमों के लिए ? बस कानून बना दिया कि छूआछूत कोई नहीं मानेगा।"[2]

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास" ,पृ0-205

2-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास" ,पृ0-206

यह आंदोलन असफल हो जाने के बाद और अधिक तैयारी करके चंदी देवी अगली बार शिव मंदिर पर चढ़ाई करती है । इस बार उसके साथ संख्या में कई गुना अधिक दलित हैं जो सवर्णों के धमकाने से भी नहीं डरते । उन्हें जोश दिलाते हुए वह कहती है---"अब बारी आप लोगों की है । लुहारों की, बयाड़ियों की, तेलियों की, दासों की ,घर के डूमों की ,सभी शिल्पकारों की । देखें अपने ईश्वर के पास सिर झुकाने ,हाथ जोड़ने से कौन रोकता है आप लोगों को ? समाज में बराबरी का हक पाने की यह शुरूआत आपको अपना खून देकर भी करनी पड़े तो करिए, ताकि आपकी आने वाली सन्तानों को यही सब कुछ न झेलना पड़े । कम से कम हमारे बेटों का जो समय होगा वह इतना दुखदायी नहीं होगा । मुझे और आपको जो यह आजाद देश मिला है, इसका रूप हमारे बेटे-बेटियों के समय तक बदल जाना चाहिए । हमारी उमर और हमसे भी अधिक उमर के लोग आज हैं, उन्होंने इस देश के आजाद हो जाने पर जाने क्या-क्या हो जाने के सपने देखे थे । मगर सपने तो सब झूठे होते जा रहे हैं । आजाद हुए नौ-दस साल हो गए हैं । मगर बदला कुछ नहीं । जो बदला दिखता है वह और बिगड़ा रूप ही दिखता है ।"[1]

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास" , पृ0-249

इस बार दलित सवर्णों पर भारी पड़ते है । वे पत्थरों से मारकर उन्हें भगा देते हैं । इसके बाद पुलिस दलितों पर लाठी - गोली चलाती है और उन्हे तितर-बितर करके चंदी देवी और नौटियाल को गिरफ्तार कर लेती है ।

"नाच्यौ बहुत गोपाल" की नायिका निर्गुन देवी अपने ऐसे ही एक अनुभव को पत्रकार शर्मा को सुनाती है---"वो बात यों हुई कि दक्खिन में अछूतों ने कृशन भगवान के एक मंदिर में दर्शन करने के लिए जुलूस निकाला। वो रोका-राका गया । सत्यागिरह हुआ । सब तमाशे हुए तो हम लोगों ने भी यही किया । छावनी में बड़ा ठाकुर द्वारा है ,लक्ष्मीनारायन की मूरत है । हम लोगों ने तै किया कि बड़ी दिवाली के दिन वहाँ सब लोग दर्शन करने जाएंगे खैर,साहब,हम लोग गए । शहर से भी कुछ लोग आ गए थे । मगर एक बात थी, इस जुलूस में भंगी-भंगी ही थे ,दूसरा हरिजन कम था और बाकी सब कांग्रेसिये थे । वो हमाए नेता वकील साहब ने हमारी बस्ती के लोगों के बच्चों को एक कविता रटा दी थी । उस जमाने में पटना के एक हीरा डोम थे,उनकी ये कविता थी । उसके शुरू के दो - चार बोल मुझे आज भी याद है ।" कहकर निर्गुनिया जी धीरे धीरे गुनगुनाने लगीं, फिर बड़े करुण स्वर में गाया:

"हमनी के रात-दिन दुखवा भोगत बानी ,
हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबि ।

हमनी के दुख भगवनओ न देखता जे,

हमनी के कबले कलेसिया उठाइबि ।।"

अरे बाबूजी,आप से क्या कहूँ ? बहुत से लोगों की आँखों से आँसू बह चले । ऐसी दर्द-भरी कविता थी । मगर भैया पुजारियों और मंदिर में खड़े बड़े-बड़े लोगों के कानों में जूँ तक न रेंगी । नेता-वकील ने हमसे धीरे से कहा ---"घण्टा दो घण्टा भीड़ खड़ी रहेगी,फिर ये भी बिखर जाएगी तब ये लोग बचे-खुचे मेहतरों पर ढेलेबाजी शुरू करेंगे । ये मैं आपसे पहले ही चिताए देता हूँ ।" मैंने कहा---"तब फिर क्या हो बाबूजी ?"

"मैं सोच रहा हूँ कि अनशन करने बैठ जाऊँ । तब एक भी भंगी भाई यहाँ से हटकर नहीं जाएगा और कुछ हमारे बल्लम्टेर भी अंगद के पाँव से जम जाएंगे । किसी के टाले नहीं टलेंगे । मगर कुछ होना चाहिए निर्गुनिया जी । बिना तमाशे के भीड़ जम नहीं पाती है ।"

"मैंने कहा: "तब फिर मैं अनशन पर बैठूँगी । आखिर हमारे वास्ते ही तो ये आंदोलन हो रहा है । हममें से ही किसी को अनशन पे बैठना चाहिए । वो भी ऐसा आदमी हो जो अडिग हो । मुझे अपने ऊपर पूरा भरोसा है । ....मेरे अनशन में बैठ जाने से उस सड़क पर भीड़ बराबर ही बनी रही । भीड़ में तरह - तरह की बातें होती थीं । कुछ हम लोगों को ,महात्मा जी को

सबको गालियाँ दे रहे थे और कुछ धरम के ढोंगियों को खरी-खरी सुना रहे थे । कभी-कभी तो बहसबाजी होते-होते गर्मागर्मी तक की नौबत तक आ जाती थी । स्वामी वेदप्रकाशानंद जी भी मेरे अनशन की बात सुनकर दूसरे दिन आए । बड़ा लिक्चर-विक्चर भी झाड़ा । तीसरे दिन कुछ कालिजों के लड़के भी शहर से आ गए और उन्होंने मंदिर के अंदर बैठ के अनशन करना शुरू किया । बैद तीन चार लड़कों ने एक साथ मिलकर अनशन करना शुरू किया । अब हमारे नब्बू भैया भी ताव खा गए । वे भी कई भंगियों के साथ बैठ गए । और मोहना तो मारा ही जा चुका था । इसलिए मेरी चिंता शहर भर की चिंता बन गई । सब कहें कि बहन जी दो जीवों के साथ खिलवाड़ न कीजिए ,अनशन तोड दीजिए,और मैं कहूँ कि नहीं । तीसरे दिन इस गर्मागर्मी के कारन पुलिस आ गई और हम लोगों को पकड़ ले गई ।"[1]

(V) राजनीति की भूमिका

भारतीय समाज की ही तरह साहित्य में भी राजनीति एक तिरस्कार की वस्तु बन चुकी है । साहित्यकार जब राजनीतिक मुद्दों को उठाता है तो प्रायः उसके ढोंग ,ढकोसले,फरेब,मक्कारी,दोमुँहेपन और छल के

1-अमृतलाल नागर, "नाच्यौ बहुत गोपाल" , पृ0-335

पर्दाफाश के लिए । लेकिन दलित जीवन से जुड़े साहित्य में स्थिति अलग है । राजनीति के उपरोक्त विशेषताओं का वर्णन निस्सन्देह वहाँ भी है क्योंकि उनका सबसे कड़वा अनुभव दलितों को ही है मगर समाज के सबसे उत्पीड़ित हिस्से के रूप में परिवर्तन की सर्वाधिक आकांक्षा भी उन्हीं के अन्दर पाई जाती है । दलितों ने अपने लंबे अनुभव के दौरान इस परिवर्तन की वाहक राजनीतिक शक्तियों की भी तलाश की है जिन्होंने उनकी लड़ाई लड़ते हुए वह सब कुछ सहा है जो उन्हें स्वयं सहना पड़ता है । जनता की मुक्ति के लिए लड़ती हुई विचारधारा और राजनीतिक शक्तियाँ अपने प्रखर रूप में दलित चेतना से सम्पृक्त कथा साहित्य में मिलती है । जमीन, मजदूरी और सामाजिक सम्मान का सवाल इनकी कार्यसूची में सबसे ऊपर पाया जाता है । "जमीन का पुनर्वितरण करना और भूमि पर जमींदारों की ---जिनमें ज्यादातर उच्च जाति के हैं---इजारेदारी को खत्म करने का काम आज तमाम भूमिहीनों और बेरोजगारों की जरूरत बन गया है ।"[1]

पिछले अध्यायों में हमने अपने अध्ययन के लिए कथा साहित्य का वर्गीकरण मोटे तौर पर दो भागों, शोषण के साहित्य और संघर्ष के साहित्य, में किया था । इन दोनों के बीच में सबसे प्रमुख अंतर जनपक्षधर राजनीति की

1- बी० टी० रणदिवे, "जाति और वर्ग", पृ०-27

उपस्थिति और अनुपस्थिति का ही है । शोषण का मार्मिक चित्रण करने वाली कहानियाँ और उपन्यास बदलाव के लिए हार्दिक तड़प के बावजूद उसके लिए सही रास्ते या सही राजनीति की तलाश नहीं कर पाते जबकि राजनीति से जुड़ जाने के बाद इनका जुझारू स्वर प्रबल होकर उभरता है ।

इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण "धरती धन न अपना" है । इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें केन्द्रीय विषय वस्तु के रूप में दलितों के भूमि पर अधिकार का प्रश्न है जो अनेक रूपों में शुरू से अंत तक उपन्यास में उठता रहता है । आगे चलकर मजदूरी का सवाल उठता है और उस पर कुछ टकराव की भी नौबत आती है लेकिन दलितों की पक्षधर किसी राजनीति की अनुपस्थिति की वजह से ही संघर्ष छिड़ नहीं पाता और यथास्थिति बरकरार रहती है । वर्ग संघर्ष की चर्चा करने वाले डा० बिशनदास जैसे बातूनी लोग वहाँ जरूर हैं लेकिन उन्हें अधिक से अधिक एक बौद्धिक प्रवृत्ति माना जा सकता है, राजनीतिक नहीं । राजनीति की अनुपस्थिति की वजह से ही इस महान औपन्यासिक कृति का अंत हताशा, अवसाद और पलायन में होता है ।

इसी तरह "नाच्यौ बहुत गोपाल" में सामाजिक सम्मान का सवाल प्रमुख है लेकिन राजनीति के अभाव की वजह से ही अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए अपनी ठाकुर उत्पत्ति पर जोर देता हुआ मोहना अंततः डाकू बन जाता

है । संघर्ष की कोई स्वस्थ दिशा न मिलने के कारण वह डकैत बनकर ऊँचीजाति के लोगों पर वैसे ही अत्याचार का रास्ता चुन लेता है,जैसा अत्याचार होते हुए उसने अपनी मेहतर जाति पर देखा है ।

"महाभोज" में शहर से लौटने के बाद बिसू शान्तिपूर्ण और संवैधानिक रास्ते से ही सही,लेकिन दलितों को उनके अधिकारों के बारे में बताता है और उन्हें संघर्ष के लिए तैयार करता है । इस प्रक्रिया में वह स्वयं एक राजनीति का प्रवक्ता बन जाता है । इस राजनीति को बिसू के जीवन मे और उसकी मौत के बाद भी गाँव की सामंती ताकतों और शहर की सत्ताधारी वर्ग की राजनीति के हमलों का शिकार होना पड़ता है लेकिन एक विचार और एक सामाजिक वर्ग से जुड़े रहने के कारण यह जीवित रहती है और बिसू के बाद बिन्दा और उसके बाद रूक्मा और एस0 पी0 सक्सेना के माध्यम से अभिव्यक्त होती है ।

"एक टुकड़ा इतिहास" की नायिका चंदी देवी ग्रामीण समाज के सत्ता और शक्ति के केंद्र पंचायत से अपमानित होने के बाद दलितों को मोटे तौर पर गाँधीवादी और कांग्रेसी आधारों पर संगठित करती है और उनका संघर्ष संचालित करती है । कांग्रेस से मोहभंग होने के बाद वह सोशलिस्ट पार्टी में जाती है जिसके सम्मेलन में अपने समाजवाद सम्बन्धी विचारों के द्वारा आचार्य नरेन्द्र देव जैसे नेताओं की प्रशंसा और उनका समर्थन प्राप्त करती है और भूमि

संघर्ष चलाती है । इस संघर्ष में कम्युनिस्ट पार्टी भी साथ देती है । दलित भूमि-हीनों की यह यात्रा गांधी और कांग्रेस से शुरू होकर इस मुकाम पर वामपंथी मोड़ प्राप्त करती है । समाजवाद के प्रति अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त करते हुए चंदी देवी उसको लाने के रास्ते के बारे में सम्मेलन में बोलते हुए कहती है ----

"मैं शायद समझा नहीं पा रही मगर पूरी तरह उस तरफ से मेरा मतलब है कि देश में सारे आर्थिक स्रोतों पर, उत्पादन और वितरण पर, शिक्षा और रोजगार पर जनता का सामूहिक नियन्त्रण हो । जनता को स्वयं निर्णायक की हैसियत दीजिये । पूरी व्यवस्था को खानों में बांटकर एक-एक खाने में समाजवाद नही लाया जा सकता । एक खाने में आप लाएंगे तो दस खानों में जो आपने अभी छोड़ रखे है, खुलकर आपके खिलाफ काम होगा ।"[1]

साठोत्तरी कहानियों में राजनीति की परिवर्तन कामी भूमिका हम तीसरे अध्याय में प्रकाश डाल चुके है ।

संक्षेप में, दलित चेतना से जुड़े साठोत्तरी कथा साहित्य की समग्र हिन्दी साहित्य में यही विशिष्ट स्थिति है ।

1-गोपाल उपाध्याय, "एक टुकड़ा इतिहास", पृ0-179

उपसंहार

शूद्र से दलित तक की यात्रा में दलित चेतना का मर्म छुपा है । हजारों साल पहले इतिहास के किसी क्रूर नियम का शिकार हुए ये करोड़ों लोग पीढ़ी दर पीढ़ी नारकीय जीवन जीते रहे । विश्व के इतिहास में ऐसा कोई दूसरा उदाहरण अकल्पनीय है । इक्कीसवी शताब्दी के मुहाने पर खड़ी दुनिया के भारत जैसे महादेश में आज भी अपने सम्मान और मुक्ति के लिए सिर उठाते दलितों को कुचलने के लिए आए दिन उनका सामूहिक नरसंहार हो रहा है और दुनिया का सबसे बड़ा लोकतन्त्र शान से चल रहा है ।

दलितों के इतिहास को देखते हुए धर्म और राष्ट्र के साथ जुड़े हुए मूल्य भी बेमानी जान पड़ते हैं । जिस धर्म और जिस राष्ट्र ने उन्हे बिना किसी अपराध के वंशानुगत गुलामी का उपहार दिया हो उसके प्रति जवाबदेही किसी जाति की क्या होगी ,यह निस्संदेह गहन चिंतन को आमन्त्रित करने वाला विषय है ।

जहाँ तक दलितों का सवाल है,एक बात साफ है कि जब कभी आंतरिक या बाह्य कारणों से,हिन्दू धर्म और वर्णाश्रम व्यवस्था में गतिरोध आया ,तभी उन्हें साँस लेने और कुछ दिखाने का अवसर मिला । उपनिषद काल में ब्राह्मण - क्षत्रियों के बीच प्रभुत्व के लिए छिड़े संघर्ष की धमक बौद्ध

और जैन धर्मों के प्रचार-प्रसार तक सुनी गई । इन परिस्थितियों में वर्णाश्रम धर्म का शिकंजा स्वभावतः कुछ कमजोर पड़ा । ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के सामने अपने साम्राज्य को बचाने के लिए शूद्रों के साथ गँठजोड़ किया और यद्यपि अपनी स्थिति वापस मजबूत कर लेने के बाद उन्होंने इनकी तरफ से आँख फेर ली, फिर भी सत्ता के खेल का मजा एक बार चख लेने के बाद शूद्रों ने भी अवसर मिलने पर अपनी क्षमताओं का भरपूर प्रदर्शन किया ।

शक, पार्थियन, हूण, गुर्जर और पहलव आदि विदेशी जातियों के हमले के समय भी इन्हे उच्चवर्णीय प्रभुओं को अपने समकक्ष आते देखने का अवसर मिला । इस्लाम के आगमन के साथ ही भाईचारे की एक अनूठी तस्वीर भारत में देखने को मिली और मुगलकाल में शिल्प और उद्योग के अभूतपूर्व विकास के पीछे इनका भी श्रम लगा था । ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इस शक्ति को भली-भाँति पहचाना था और इस दलित शक्ति ने भी उनकी सेना में शामिल होकर क्षत्रियों और ब्राह्मणों को अपने तलवार के जौहर दिखाए थे । कहते हैं कि मराठा शक्ति को तोड़ने में सबसे बड़ा हाथ अंग्रेजों की तरफ से लड़ने वाले महार सैनिकों का था । इसी दौरान महात्मा फुले, पेरियार और डा० अम्बेडकर के नेतृत्व में इनके अंदर अभूतपूर्व जागरण आया और इन्होंने पहली बार अखिल भारतीय स्तर पर शक्ति संतुलन को बदलने वाली निर्णायक ताकत के बतौर भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप किया ।

गुण और मात्रा दोनों ही दृष्टियों से यह जागरण प्राचीन काल में बुद्ध के धार्मिक आंदोलन और मध्यकाल में कबीर और रैदास जैसे संतों की अगुवाई में चले भक्ति आंदोलन से आगे बढ़ा हुआ था । यद्यपि इसकी विशिष्टता यह थी कि जहाँ पहले दोनों आंदोलनों की साक्षी उत्तर प्रदेश और बिहार की धरती बनी वहीं इस काल में दलितों का उभार सुदूर दक्षिण में तमिलनाडु और पश्चिम में महाराष्ट्र में प्रमुख रूप से घटित हुआ । इसका एक कारण इन हिन्दी भाषी क्षेत्रों में चलने वाले स्वाधीनता संग्राम में गाँधी जी के व्यापक प्रभाव की वजह से हरिजन नेतृत्व का काँग्रेस के साथ होना रहा । वर्तमान में उत्तर प्रदेश में अम्बेडकर के विचारों पर आधारित संभवतः सर्वाधिक संगठित दलित शक्ति राजनीतिक रूप से सक्रिय है जबकि बिहार में आए दिन दलितों पर ढाए जाने वाले नरसंहार बताते हैं कि वहाँ वामपंथियों के नेतृत्व में दलित कठोर संघर्ष कर रहे हैं ।

प्राचीनतम वैदिक ग्रंथ ऋग्वेद में शूद्रों के ब्रह्मा के पैरों से पैदा होने का सैद्धांतिक औचित्य प्रस्तुत करता है । आर्यों के अन्य जन-जातियों के साथ और उसके अंतर जनजातीय संघर्षों के कारण समाज विश्रृंखलित होता गया और जैसे-जैसे पशुपालन की अपेक्षा कृषि जोर पकड़ती गई, सामाजिक वर्गों की स्थापना हुई ।

हड़प्पा समुदाय की शहरी आबादी में जो आर्थिक विषमता थी, वह लगभग वर्गभेद जैसी थी । ऋग्वैदिक आर्यों के आने से पहले सैंधव सभ्यता प्राय: नष्ट हो चुकी थी । आर्यों के आक्रामक विस्तार के साथ उत्तर - पश्चिम भारत में बचे-खुचे लोगों को उनकी दासता स्वीकार करनी पड़ी होगी । यही शूद्र कहलाए होंगे ।

उत्तर वैदिक काल में शूद्र जनजाति से वर्ण में रूपांतरित हुए । इस काल तक वे आर्यों की राज्य व्यवस्था में हाथ बँटाते थे और उनकी महिलाओं के साथ आर्यों का विवाह करना बुरा नहीं समझा जाता था ।

मौर्य पूर्व काल में संभवत: कुछ व्यवस्थाओं को अपवित्र मानने और शूद्रों की हीन उत्पत्ति संबंधी सिद्धान्त पर जोर देने के कारण शूद्रों के प्रति अस्पृश्यता का समाज में प्रचार हुआ । बौद्ध और जैन धर्मों के प्रचार के फलस्वरूप इन्हें थोड़ी राहत भी मिली । पुराने ब्राह्मण धर्म का शिकंजा थोड़ा ढीला पड़ा। वैष्णव भक्ति संप्रदाय की भी शुरूआत इसी अवधि में हुई और ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष के फलस्वरूप एक शूद्र महापद्मनंद को मगध का राजा बनने का अवसर मिला ।

मौर्य काल में चाणक्य ने उन पर फिर कड़े नियमों का नियमन किया । लेकिन गतिशील आर्थिक कारकों के कारण इन्हें कृषि और शिल्प में भाग लेने और सेना में भर्ती होने का अवसर मिला ।

मौर्योत्तर काल के नियंता मनु थे जिनका शूद्र विरोध जग जाहिर है । लेकिन ग्रीक शक और पार्थियनों के आने के कारण वर्ण व्यवस्था का बंधन शिथिल भी पड़ा । आगे चलकर गुप्तकाल में यह बंधन और ढीला पड़ा । गुप्तों के बाद विदेशी हूणों ,गुर्जरों और पह्लवों के हमलों से उपजी अस्थिरता में शूद्रों को कहीं-कहीं अपनी स्थिति मजबूत करने में सहायता मिली । यह प्रक्रिया तुर्क - अफगान शासन तक जारी रही । विचारधारात्मक - सांस्कृतिक तौर पर आंतरिक भाई-चारे के इस्लामी प्रभाव का भी असर हिन्दुओं पर पड़ा और शूद्रों के बंधन कमजोर पड़ते गए । इसी पृष्ठ भूमि में पेरियार -फूले-अम्बेडकर के नेतृत्व मे दलित जागरण की भूमिका बनी ।

स्वाधीनता संग्राम के दौरान एक तरफ गांधी के नेतृत्व में इस आंदोलन से जुड़कर तो दूसरी ओर अंबेडकर के नेतृत्व में अपनी स्वतंत्र स्थिति को बरकरार रखते हुए दलितों के अंदर जो अभूतपूर्व चेतना आई उसका प्रतिफलन साहित्य में भी हुआ । सदी के आरंभ में "सरस्वती" में प्रकाशित हीरा डोम की कविता से हिन्दी में इस नई प्रवृत्ति का आरंभ हुआ । आगे चलकर यह प्रेमचंद, पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" और निराला के कथा साहित्य में परवान चढ़ी ।

मराठी साहित्य में दलित आंदोलन से हिन्दी की दलित चेतना की भिन्नता की वजह यह थी कि मराठी दलित समाज में डा० अंबेडकर ने स्वाधीनता संग्राम के प्रति सचेत और स्वतन्त्र रूख अपनाया जबकि हिन्दी

भाषी क्षेत्र के दलित महात्मा गाँधी के अछूतोत्थान से प्रभावित होकर काँग्रेस के एक अंग के रूप में ही सक्रिय हो सके ।

आजादी की लड़ाई के दौरान समाजवादी और साम्यवादी आंदोलन भी मोटे तौर पर काँग्रेस के अनुषंगिक आंदोलन बने रहे किन्तु आजादी मिलने के बाद इन्होंने स्वतन्त्र होकर स्वाधीन भारत की व्यवस्था की आलोचना की । इसका पहला साक्ष्य रेणु कृत "मैला आँचल" में मिला । "60 तक आते-आते आजादी से मोहभंग की प्रक्रिया पूरी हो गई और एक तरफ तो फ्रायड और सात्र के विचारों से प्रेरणा लेकर मध्यवर्गीय युवकों का यथास्थिति से विद्रोह सामने आया वहीं दूसरी तरफ मार्क्स-अम्बेडकर -गाँधी के विचारों पर आधारित सामाजिक जागरण भी दिखाई पड़ा जिसके केन्द्र में दलित थे ।

दलित चेतना से संपृक्त कथा-साहित्य ने हिन्दी की अनेक रूढ़ियों को तोड़ दिया । स्त्री-पुरूष संबंध, महिलाओं की स्थिति, गाँव - शहर विवाद और राजनीति के प्रति यह साहित्य सही अर्थों में जनतांत्रिक दृष्टिकोण लेकर सामने आया जिसका समुचित मूल्यांकन किया जाना अभी बाकी है ।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में हिन्दी साहित्य में दलित चेतना विमर्श के केन्द्र में आ चुकी है । अब इसके अवदानों की ओर उपेक्षा संभव नहीं है । हमने इस शोध प्रबंध में "80" तक के कथा साहित्य की सीमा के अन्तर्गत ही अध्ययन किया । "80 के बाद इस चेतना में आए परिवर्तनों के

अध्ययन से भविष्य में यह बात स्पष्ट हो सकेगी कि साठोत्तरी हिन्दी कथा साहित्य में दलित चेतना की भूमिका का वास्तव में कितना महत्व था और हिन्दी साहित्य, जैसा वह आज है, उसे निर्धारित करने में इस चेतना की क्या भूमिका रही है ।

ग्रन्थ-सूची

लेखक	पुस्तक
1- प्रेमचंद	मानसरोवर
2- प्रेमचंद	गोदान
3- निराला	रचनावली
4- गिरिराज शरण (सम्पादक)	दलित जीवन की कहानियाँ
5- मार्कण्डेय	चुनी हुई कहानियाँ
6- जगदीश चंद्र	धरती धन न अपना
7- अमृतलाल नागर	नाच्यौ बहुत गोपाल
8- मन्नू भंडारी	महाभोज
9- गोपाल उपाध्याय	एक टुकड़ा इतिहास
10- फणीश्वर नाथ रेणु	मैला आँचल
11- रामविलास शर्मा	निराला की साहित्य साधना
12- रामविलास शर्मा	महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण
13- दूधनाथ सिंह	निराला: आत्महंता आस्था
14- मिखाइल लिफ्शित्स	मार्क्सवाद और साहित्य
15- रैल्फ फाक्स	उपन्यास और लोकजीवन
16- ज्यार्जी प्लेखानोव	कला और सामाजिक जीवन
17- मार्कण्डेय	कहानी की बात
18- नामवर सिंह	कहानी नयी कहानी

ग्रन्थ-सूची

लेखक	पुस्तक
19- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास
20- डा० भैरूलाल गर्ग	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन
21- राजकिशोर (संपादक)	हरिजन से दलित
22- रामविलास शर्मा	भारतीय नवजागरण और यूरोप
23- बी० टी० रणदिवे	जाति और वर्ग
24- रामदरश मिश्र	हिन्दी कहानी ,दो दशक की यात्रा
25- डा० देव क्यूरिया	हिंदी कहानी साहित्य में प्रेम एवं सौंदर्य तत्व का निरूपण
26- राजेन्द्र यादव	एक दुनिया समानांतर
27- संतबख्श सिंह	नई कहानी : कथा और शिल्प
28- लालचंद गुप्त "मंगल"	अस्तित्ववाद और नई कहानी
29- रामदरश मिश्र	हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष
30- नेमिचंद्र जैन	अधूरे साक्षात्कार
31- भगवान दास वर्मा	कहानी की संवेदनशीलता :सिद्धान्त और प्रयोग
32- लू शुन	कला, साहित्य और संस्कृति
33- हावर्ड फास्ट	साहित्य और यथार्थ
34- रजनीकांत शास्त्री	हिंदू जाति का उत्थान और पतन
35- हरगोविन्द	उपनिषदों की सामाजिक व्याख्या
36- देवी शंकर अवस्थी	नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति

ग्रन्थ-सूची

लेखक	पुस्तक
37- रोमिला थापर	आर्य : मिथक और यथार्थ
38- के० एम० पनिक्कर	संस्कृति चेतना, विचारधारा-एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
39- रविंदर कुमार	आधुनिक भारत का उदय
40- कमलेश्वर	नई कहानी की भूमिका
41- सीताराम शर्मा	स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य
42- डा० बेचन	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य
43- डा० विवेकी राय	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन
44- राजेन्द्र यादव	कहानी : स्वरूप और संवेदना
45- डा० धनंजय	आज की हिन्दी कहानी
46- डा० रघुवर दयाल वार्ष्णेय	हिन्दी कहानी :बदलते प्रतिमान
47- डा० बच्चन सिंह	समकालीन हिन्दी साहित्य:आलोचना को चुनौती
48- डा० इन्द्रनाथ मदान	हिन्दी कहानी:अपनी जबानी
49- डा० इन्द्र नाथ मदान	हिन्दी कहानी :पहचान और परख
50- ओम प्रकाश ग्रेवाल	साहित्य और विचारधारा
51- डा० राम गोपाल सिंह चौहान	आधुनिक हिन्दी साहित्य
52- डा० विश्वंभर नाथ उपाध्याय	समकालीन कहानी की भूमिका
53- नेमिचंद्र जैन	बदलते परिप्रेक्ष्य
54- डा० सुरेश सिन्हा	हिन्दी कहानी का उद्भव और

ग्रन्थ-सूची

लेखक	पुस्तक
55- मधुकरसिंह विजयमोहन सिंह	"60 के बाद की कहानियाँ
56- आचार्य नंद दुलारे बाजपेई	आधुनिक हिन्दी साहित्य
57- डा0 देवराज उपाध्याय	आधुनिक हिंदी कथा साहित्य और मनोविज्ञान
58- डा0 रघुवंश	साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य
59- डा0 धर्मवीर भारती	मानव मूल्य और साहित्य
60- मोहन राकेश	बकलम खुद
61- जनेश्वर शर्मा	प्रेमचंद साहित्य में वर्ग चेतना
62- रामविलास शर्मा	प्रेमचंद और उनका युग
63- एस0 जी0 सरदेसाई	प्राचीन भारत में प्रगति और रूढ़ि
64- देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय	प्राचीन भारत में भौतिकवाद
65- देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय	भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत
66- कुंवरपाल सिंह (संपादक)	साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद
67- शिवकुमार मिश्र	भक्तिकाव्य और लोकजीवन
68- भगवत शरण उपाध्याय	भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण
69- एस0 ए0 डांगे	भारत: साम्यवाद से दास प्रथा तक
70- रामशरण शर्मा	शूद्रों का प्राचीन इतिहास
71- रामशरण शर्मा	भारतीय सामंतवाद
72- इरफान हबीब	भारतीय इतिहास में जाति और
73- डा0 राजेन्द्र मोहन भटनागर	युग पुरूष अंबेडकर

ग्रन्थ-सूची

लेखक	पुस्तक
74- डी0 डी0 कौसांबी	भगवान बुद्ध : जीवन और दर्शन
75- डी0 डी0 कौसांबी	प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता
76- के0 सी0 घोष	ब्राह्मणवाद और शूद्र
77- डा0 अम्बेडकर	शूद्र कौन थे
78- डा0 अम्बेडकर	जातिभेद और उच्छेद
79- भगवत शरण उपाध्याय	खून के छींटे, इतिहास के पन्नों पर
80- विजय मोहन सिंह	आज की कहानी
81- मधुरेश	नई कहानी : पुनर्विचार

अँग्रेजी-ग्रन्थ

लेखक	पुस्तक
1- ई0 जे0 रैप्सन	दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया
2- चाइल्ड	दि मोस्ट एनशिएंट ईस्ट
3- व्हीलर	दि इंडस सिविलिजेशन
4- लाल	एनशिएंट इंडिया
5- शेफ़र	एथ्नोग्राफी इन एनशिएंट इंडिया
6- दास	दि इकोनामिक हिस्ट्री आफ एनशिएंट इंडिया
7- जायसवाल	हिन्दू पोलिटी
8- घोषाल	हिन्दू पब्लिक लाइफ
9- कीथ	कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया
10- बुहलर	सेक्रेड बुक आफ दि ईस्ट
11- जगजीवन राम	कास्ट चैलेन्ज
12- एस0 बील	ट्रैवेल्स आफ फाहियान
13- के0 जी0 गोस्वामी	वैष्णविज्म
14- बी0 भट्टाचार्य	जाड्यसंहिता
15- लैटमेन	दि ओरिजिन्स आफ सोशल इन इक्वलिटीज आफ दि सोशल क्लासेस
16- के0 वी0 रंगस्वामी अयंगर	पोलिटिकल एण्ड सोशल आस्पेक्ट्स आफ दि सिस्टम आफ मनुस्मृति

पत्र : पत्रिकाएँ

नाम	संपादक	प्रकाशन स्थान
1- आलोचना (त्रैमासिक)	डा० नामवर सिंह	दिल्ली
2- उत्कर्ष (मासिक)	गोपाल उपाध्याय	लखनऊ
3- कल्पना (मासिक)	बद्री विशाल पित्ती	हैदराबाद
4- कहानी (मासिक)	श्रीपत राय	इलाहाबाद
5- कथा (अनियत कालिक)	मार्कण्डेय	इलाहाबाद
6- सारिका (मासिक)	कमलेश्वर	बम्बई
7- नई कहानियाँ (मासिक)	भैरव प्रसाद गुप्त	इलाहाबाद
8- निकष (त्रैमासिक)	डा० धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा	इलाहाबाद
9- संचेतना (मासिक)	डा० महीप सिंह	दिल्ली
10- नई कहानी (त्रैमासिक)	सतीश जमाली	इलाहाबाद
11- पहल (त्रैमासिक)	ज्ञानरंजन	जबलपुर
12- अभिप्राय (त्रैमासिक)	राजेन्द्र कुमार	इलाहाबाद
13- समकालीन जनमत (पाक्षिक)	राम जी राय	दिल्ली
14- उत्तर प्रदेश (मासिक)	लीलाधर जगूड़ी	लखनऊ
15- पश्यन्ती (त्रैमासिक)	प्रणवकुमार बंदोपाध्याय	दिल्ली
16- वर्तमान साहित्य (मासिक)	विभूति नारायण राय	गाजियाबाद
17- समकालीन भारतीय साहित्य (त्रैमासिक)	गिरधर राठी	दिल्ली
18- हिंदी क्लम (अनियत कालिक)	नीलकांत	इलाहाबाद
19- पल प्रतिपल (त्रैमासिक)	देश निर्मोही	पंचकुला, हरियाणा

नाम	संपादक	प्रकाशन स्थान
20- साक्षात्कार (मासिक)	आग्नेय	भोपाल
21- हंस (मासिक)	राजेन्द्र यादव	दिल्ली
22- कथा देश (मासिक)	हरिनारायण	दिल्ली